वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४७ अंक ११ नवम्बर २००९

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

॥ सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ।। ॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २००९

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४७
अंक ११

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

१. विवेक-चूडामणि (श्री शंकराचार्य) ५०३

२. तरुणों का आह्वान (कविता) ५०४

३. आत्मविश्वास चाहिये (स्वामी विवेकानन्द) ५०५

४. नाम की महिमा (४/१) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) ५०७

५. चिन्तन – १६५ (गीता का सन्देश) (स्वामी आत्मानन्द) ५१२

६. आत्माराम के संस्मरण (१७) (स्वामी जपानन्द) ५१३

७. महाभारत-मुक्ता (५) विष नहिं तजहिं भुजंग (स्वामी सत्यरूपानन्द) ५१७

८. सपने का सच (कविता) (देवेन्द्र कुमार मिश्रा) ५२१

९. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर) ५२२

१०. स्वामीजी और राजस्थान – ५९ (खेतड़ी निवास – शेष बातें) (स्वामी विदेहात्मानन्द) ५२३

११. माँ की मधुर स्मृतियाँ – ७२ (माँ की स्मृति) (ब्रह्म गोपाल दत्त) ५२७

१२. पुरखों की थाती (सार्थ सुभाषित) ५२८

१३. साधना के सूत्र (१) (स्वामी माधवानन्द) ५२९

१४. मजदूर से मालिक (रामेश्वर टांटिया) ५३१

१५. पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१७) (स्वामी प्रेमेशानन्द) ५३३

१६. स्वामीजी के साथ दो-चार दिन (क्रमशः) (हरिपद मित्र) ५३६

१७. भागवत का रहस्य (स्वामी आत्मानन्द) ५४०

१८. संत रविदास का जीवन-दर्शन (डॉ. रामनिवास) ५४२

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

वर्ष ४७ **नवम्बर २००९** **अंक ११**

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान्विषयो न स्वतः प्रियः ।
स्वत एव हि सर्वेषामात्मा प्रियतमो यतः
तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःखं कदाचन ।।१०६

अन्वय – प्रेयान् विषयः आत्मार्थत्वेन हि प्रियः, स्वतः न । यतः आत्मा स्वतः एव हि सर्वेषां प्रियतमः । ततः आत्मा सदानन्दः अस्य कदाचन दुःखं न ।

अर्थ – इन्द्रियों के प्रिय विषय, अपने स्वत: के गुण से नहीं, अपितु आत्मा के लिये प्रिय होते हैं। चूँकि आत्मा स्वत: ही सबका परम प्रिय है, अत: वह आत्मा सदानन्द है, उसको दु:ख कभी नहीं हो सकता ।

यत्सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोऽनुभूयते ।
श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं च जाग्रति ।।१०७।।

अन्वय – यत् सुषुप्तौ निर्विषयः आत्मानन्दः अनुभूयते । श्रुतिः प्रत्यक्षम्-ऐतिह्यम् च अनुमानम् च जाग्रति ।

अर्थ – इस कारण सुषुप्ति अर्थात् प्रगाढ़ निद्रा के समय भोग्य विषयों से रहित आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है। (आत्मा के इस आनन्दमय स्वरूप के विषय में) श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (परम्परा) तथा अनुमान – ये चार प्रमाण हैं।

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।।१०८।।

अन्वय – त्रिगुणात्मिका अव्यक्तनाम्नी परमेश-शक्ति अनादि अविद्या परा माया एव। सु-धिया कार्य-अनुमेया यया इदम् सर्वम् जगत् प्रसूयते ।

अर्थ – माया या अविद्या परमेश्वर की शक्ति है। इसे अव्यक्त भी कहते हैं। यह अनादि माया ही सत्त्व आदि तीनों गुणों से समन्वित होकर (विश्व की) कारण-स्वरूप है। ज्ञानी लोग कार्य (जगत्) को देखकर उस (माया) का अनुमान करते हैं, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि होती है।

सन् नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
साङ्गाप्यनङ्गा ह्युभयात्मिका नो
महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ।।१०९।।

अन्वय – सत् न, असत् अपि न, उभयात्मिका अपि नो, भिन्ना अपि, अभिन्ना अपि, उभयात्मिका नो, स-अङ्गा अपि, अन्-अङ्गा, हि-उभयात्मिका नो, महा-अद्भुता अनिर्वचनीयरूपा ।

अर्थ – यह माया सत् नहीं, असत् नहीं तथा उभयात्मिका भी नहीं है; (आत्मा से) भिन्न नहीं, अभिन्न नहीं तथा उभयात्मिका भी नहीं है; यह अंगयुक्त नहीं, अंगरहित नहीं तथा उभयात्मिका भी नहीं है; यह महा अद्भुत एवं अवर्णनीय स्वरूपवाली है।

शुद्धाद्वयब्रह्मविबोधनाश्या
सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा ।
रजस्तमःसत्त्वमिति प्रसिद्धा
गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः।।११०।।

अन्वय – शुद्ध-अद्वय-ब्रह्म-विबोध-नाश्या यथा रज्जु-विवेकतः सर्पभ्रमः । स्वकार्यैः प्रथितैः सत्त्वम् रजः तमः इति प्रसिद्धा तदीयाः गुणाः ।

अर्थ – जैसे रस्सी के ज्ञान से सर्प का भ्रम दूर होता है, वैसे ही शुद्ध अद्वय ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा इस (माया) का नाश होता है। अपने कार्यों से प्रसिद्ध होनेवाले सत्त्व, रज, तम – ये तीनों माया के ही गुण हैं।

तरुणों का आह्वान

– १ –

(मालकौंस–कहरवा)

उठो उठो, अमृतसन्तान, जागो तज प्रमाद-अज्ञान ।।

आज माँगती भारतमाता, अपने पुत्रों का बलिदान,
द्वेष-दम्भ, निज स्वार्थ त्यागकर,
करने होंगे कर्म महान् ।।

अन्तर में है सुप्त तुम्हारे, सर्व शक्तियाँ बीज समान,
दिव्य तेज के तुम अधिकारी,
करो वत्स निज बल का ध्यान ।।

बाट जोहती दुनिया सारी, आशा भरी दृष्टि से जान,
भारत का अध्यात्म-दीप ले,
आलोकित कर दो विज्ञान ।।

दीन-दलित जन को देना है, धर्म-अर्थ-विद्या का दान,
सबको ईश्वर-रूप जानकर,
अर्पित करो प्रीति-सम्मान ।।

उदयमान रवि पूर्वांचल में, फैल रहा है स्वर्णविहान,
आओ सब 'विदेह' मिल गायें,
हिन्द-जागरण का नवगान ।।

– २ –

(अड़ाना-कहरवा)

जागो जवान, उठो जवान,
सुनो सुनो, स्वामीजी का आह्वान।
देशसेवा-यज्ञ में, बलिदान कर दो देह-प्राण ।।

यह धरा दुख से सुलगती, आर्तनाद विलाप करती,
पीड़ितों के ताप हरने, त्याग दो निज स्वार्थ-मान ।।

मोहनिद्रा छोड़ जागो, अलसता-अभिमान त्यागो,
चल पड़ो अविराम पथ पर, कर्म करने अति महान ।।

आत्मविद्या-अस्त्र लेकर, जीव-सेवा-शस्त्र लेकर,
निज पराक्रम व्यक्त कर दो, हिल उठे सारा जहान ।।

– 'विदेह'

आत्म-विश्वास चाहिये

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

हे मेरे युवक बन्धुओ ! बलवान बनो – यही तुम्हारे लिये मेरा उपदेश है। गीता-पाठ करने की अपेक्षा फुटबाल खेलने से तुम्हें ईश्वर कहीं अधिक सुलभ होगा। मैंने अत्यन्त साहसपूर्वक ये बातें कही हैं और इन्हें कहना अति आवश्यक है, क्योंकि मैं तुम लोगों को प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि कंकड़ कहाँ चुभता है। मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किया है। बलवान शरीर या मजबूत पुट्ठों से तुम गीता को और अच्छी तरह समझोगे। शरीर में ताजा रक्त होने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा तथा महान् तेजस्विता को अच्छी तरह समझ सकोगे। जब तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरों के बल दृढ़ भाव से खड़ा होगा, जब तुम अपने को मनुष्य समझोगे, तब तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा भलीभाँति समझोगे।[८]

यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु है। बल ही अनन्त सुख है और अमर तथा शाश्वत जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु है।[९]

सफल होने के लिये प्रबल अध्यवसाय चाहिये, मन का अमित बल चाहिये। अध्यवसायी साधक कहता है, "मैं चुल्लू से समुद्र पी जाऊँगा। मेरी इच्छा मात्र से पर्वत चूर-चूर हो जाएँगे।" इस तरह का तेज, ऐसा दृढ़ संकल्प लेकर कठोर साधना करो और तुम लक्ष्य अवश्य प्राप्त करोगे।[१०]

निराश मत होओ, मार्ग बड़ा कठिन है – छुरे की धार पर चलने के समान दुर्गम है, फिर भी निराश मत होओ – उठो, जागो और अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करो।[११]

कोई कुछ भी कहे, अपने विश्वास में दृढ़ रहो – दुनिया तुम्हारे पैरों तले आ जाएगी, चिन्ता मत करो। लोग कहते हैं – "इस पर विश्वास करो, उस पर विश्वास करो," पर मैं कहता हूँ – "पहले अपने आप पर विश्वास करो।" यही रास्ता है। Have faith in yourself – all power is in you – be conscious and bring it out. (स्वयं पर विश्वास करो – सब शक्ति तुम में है – इसे जान लो और प्रकट करो।)[१२]

प्रसन्न होओ और इस बात का विश्वास रखो कि प्रभु ने बड़े-बड़े कार्य करने के लिये हम लोगों को चुना है और हम उन्हें करके ही रहेंगे।[१३]

जो हमारे पास नहीं है, जो शायद हमारे पूर्वजों के पास भी नहीं था – जो यवनों के पास था और जिसका स्पन्दन यूरोपीय डायनेमो से उस महाशक्ति को बड़े वेग से उत्पन्न कर रहा है, जिसका संचार समस्त भूमण्डल में हो रहा है – हम उसी को चाहते हैं। हम वही उद्यम, स्वाधीनता के लिये वही प्रेम, वही आत्मनिर्भरता, वही अटल धैर्य, वही कार्यकुशलता, वही एकता और वही उन्नति-पिपासा चाहते हैं। हम बीती हुई बातों की उधेड़-बुन छोड़कर अनन्त तक विस्तारित दूरदृष्टि चाहते हैं और आपाद-मस्तक नस-नस में बहनेवाला रजोगुण चाहते हैं।[१४]

पूर्ण नीतिपरायण तथा साहसी बनो – प्राणों के लिये भी कभी न डरो। धार्मिक मत-मतान्तरों को लेकर व्यर्थ में माथापच्ची मत करो। कायर लोग ही पापाचरण करते हैं, वीर कभी भी पाप नहीं करते – यहाँ तक कि वे मन में भी कभी पाप के विचार नहीं लाते।[१५]

सबके पास जा-जाकर कहो, "उठो, जागो और सोओ मत। सारे अभाव और दु:ख नष्ट करने की शक्ति तुम्हीं में है – इस बात पर विश्वास करने से ही वह शक्ति जाग उठेगी।"[१६]

सिंह-गर्जन के साथ आत्मा की महिमा घोषित करो। जीव को अभय देकर कहो – **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत**।[१७]

कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृजन किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं और जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अत: उठो, साहसी बनो, वीर बनो। सारा उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लो और याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है।[१८]

आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकता है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी व्यापक रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप में परिणत हो जाता, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितने दु:ख तथा बुराइयाँ

हैं, उनका अधिकांश लुप्त हो जाता। मानव-जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई प्रेरणा सर्वाधिक सशक्त रही है, तो वह आत्मविश्वास ही है।[१९]

विश्वास, सहानुभूति – दृढ़ विश्वास और ज्वलन्त सहानुभूति चाहिये ! जीवन तुच्छ है, मरण भी तुच्छ है; भूख तुच्छ है और जाड़ा भी तुच्छ है। प्रभु की जय हो ! आगे कूच करो – प्रभु ही हमारे सेनानायक हैं। पीछे मत देखो। कौन गिरा, पीछे मत देखो – आगे बढ़ो, बढ़ते चलो ! भाइयो, इसी तरह हम आगे बढ़ते जाएँगे, – एक गिरेगा, तो दूसरा वहाँ डट जाएगा।[२०]

अनुकरण, कायर की तरह अनुकरण करके कोई उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। वह तो मनुष्य के अध:पतन का लक्षण है। जब मनुष्य स्वयं से घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिये कि उस पर अन्तिम चोट बैठ चुकी है। ... अत: भाइयो, आत्मविश्वासी बनो। अपने पूर्वजों के नाम से स्वयं को लज्जित नहीं, गौरवान्वित समझो। याद रहे, किसी का अनुकरण कदापि न करो। कदापि नहीं। जब तुम औरों के विचारों का अनुकरण करते हो, तो अपनी स्वाधीनता गँवा बैठते हो। यहाँ तक कि आध्यात्मिक विषय में भी यदि दूसरों के आज्ञाधीन होकर कार्य करोगे, तो अपनी सारी शक्ति, यहाँ तक कि विचार की शक्ति भी खो बैठोगे। अपने स्वयं के प्रयत्नों के द्वारा अपने अन्दर की शक्तियों का विकास करो। पर देखो, दूसरे का अनुकरण न करो। हाँ, दूसरों के पास जो कुछ अच्छाई हो, उसे अवश्य ग्रहण करो। हमें दूसरों से अवश्य सीखना होगा। ... औरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है।[२१]

परिश्रम करो, अटल रहो और भगवान पर श्रद्धा रखो। काम शुरू कर दो। ... 'धर्म को बिना हानि पहुँचाये जनता की उन्नति' – इसी को अपना आदर्श वाक्य बना लो।

याद रखो कि राष्ट्र झोपड़ी में बसा हुआ है, परन्तु हाय ! उन लोगों के लिये कभी किसी ने कुछ किया नहीं। ... बिना उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक वृत्ति को नष्ट किये, क्या तुम उनका खोया हुआ व्यक्तित्व उन्हें वापस दिला सकते हो? क्या समता, स्वतंत्रता, कार्य-कुशलता तथा पुरुषार्थ में तुम पाश्चात्यों के भी गुरु बन सकते हो? क्या तुम उसी के साथ-साथ स्वाभाविक आध्यात्मिक अन्त:प्रेरणा तथा अध्यात्म-साधनाओं में एक निष्ठावान सनातनी हिन्दू हो सकते हो। यह हमें करना है और हम इसे अवश्य करेंगे। तुम सबने इसी के लिये जन्म लिया है। अपने आप पर विश्वास रखो। दृढ़ संकल्प महान् कार्यों की जननी है।[२२]

पूर्ण निष्कपटता, पवित्रता, विशाल बुद्धि और सर्व-विजयी इच्छाशक्ति। इन गुणों से सम्पन्न मुट्ठी भर आदमियों को यह काम करने दो और सारे संसार में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाएगा।[२३]

अपने आप पर श्रद्धा करना सीखो ! इसी आत्मश्रद्धा के बल पर अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और शक्तिशाली बनो। इस समय हमें इसी की आवश्यकता है।[२४]

मेरा दृढ़ विश्वास है और मैं तुम लोगों से भी यह बात अच्छी तरह समझ लेने को कहता हूँ कि जो व्यक्ति दिन-रात अपने को दीन-हीन या अयोग्य समझते हुए बैठा रहेगा, उसके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। वास्तव में यदि वह दिन-रात स्वयं को दीन-हीन तथा 'कुछ नहीं' समझता है, तो वह 'कुछ नहीं' ही बन जाता है। यदि तुम कहो – 'मेरे अन्दर शक्ति है', तो तुममें शक्ति जाग उठेगी। और यदि तुम सोचो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ' – दिन-रात यही सोचा करो, तो तुम सचमुच ही 'कुछ नहीं' हो जाओगे। तुम्हें यह महान् तत्त्व सदा स्मरण रखना होगा। हम तो उसी सर्व-शक्तिमान परम पिता की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं – भला हम 'कुछ नहीं' कैसे हो सकते हैं? हम सब कुछ हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं और मनुष्य को सब कुछ करना ही होगा।[२५]

यदि भौतिक दृष्टि से बड़े होना चाहो, तो विश्वास करो – तुम वैसे ही हो जाओगे। मैं एक छोटा-सा बुलबुला हो सकता हूँ, तुम पर्वताकार ऊँची तरंग हो सकते हो, परन्तु यह जान रखो कि हम दोनों के लिये पृष्ठभूमि अनन्त समुद्र ही है। अनन्त ब्रह्म हमारी समग्र शक्तियों तथा बल का भण्डार है और हम दोनों ही उससे अपनी इच्छा भर शक्ति-संग्रह कर सकते हैं। इसलिये अपने आप पर विश्वास करो।[२६]

❖ **(क्रमश:)** ❖

सन्दर्भ-सूची – ८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ३७; **९**. वही, खण्ड ९, पृ. १७७; **१०**. वही, खण्ड १, पृ. ९०; **११**. वही, खण्ड २, पृ. ७९; **१२**. वही, खण्ड ३, पृ. ३११-१२; **१३**. वही, खण्ड २, पृ. ३१२; **१४**. वही, खण्ड १०, पृ. १३५; **१५**. वही, खण्ड १, पृ. ३५१; **१६**. वही, खण्ड ६, पृ. १४; **१७**. वही, खण्ड ६, पृ. ९८; **१८**. वही, खण्ड २, पृ. १२०; **१९**. वही, खण्ड ८, पृ. १२; **२०**. वही, खण्ड १, पृ. ४०५-०६; **२१**. वही, खण्ड ५, पृ. २७२-७३; **२२**. वही, खण्ड २, पृ. ३२१-२२; **२३**. वही, खण्ड ४, पृ. २७५; **२४**. वही, खण्ड ५, पृ. ८६; **२५**. वही, खण्ड ५, पृ. २६७; **२६**. वही, खण्ड ५, पृ. ३१६-१७

नाम की महिमा (४/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

राम एक तापस तिय तारी ।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।

– श्रीराम ने तो केवल एक तपस्वी स्त्री का उद्धार किया, परन्तु उनके नाम ने करोड़ों दुष्ट बुद्धिवालों को सुधार दिया।

रिषि हित राम सुकेतु सुता की ।
सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।
सहित दोष दुख दास दुरासा ।
दलइ राम जिमि रबि निसि नासा ।।

– श्रीराम ने तो ऋषि विश्वामित्र के हितार्थ, सेना तथा पुत्र सुबाहु सहित सुकेतु-कन्या ताड़का का वध किया, परन्तु उनके नाम ने अपने भक्तों के दोषों, दु:खों तथा दुराशाओं का वैसे ही नाश कर दिया जैसे सूर्य रात्रि का।

भंजेउ राम आपु भव चापू ।
भव भय भंजन नाम प्रतापू ।।

– स्वयं श्रीराम ने तो भव अर्थात् शिवजी के धनुष को तोड़ दिया, परन्तु उनके नाम का प्रताप भव अर्थात् संसार के समस्त भयों का नाश करने वाला है।

दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन ।
जन मन अमित नाम किए पावन ।।

– श्रीराम ने तो एक दण्डक वन को ही सुहावना बना दिया, परन्तु उनके नाम ने असंख्य लोगों के मन को पवित्र बनाया।

निसिचर निकर दले रघुनन्दन ।
नामु सकल कलि कलुष निकंदन ।।१/२४/३-८

– श्रीराम ने तो राक्षसों के समूह को नष्ट किया, परन्तु उनका नाम कलियुग के सारे पापों का नाश करनेवाला है।

सबरी गीध सुसेबकन्हि सुगति दीन्ह रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ।। १/२४

– श्रीराम ने तो शबरी, गीध आदि उत्तम भक्तों को ही मुक्ति दी, परन्तु उनके नाम ने असंख्य पापियों का उद्धार किया। उनके नाम के गुणों की गाथा वेदों में भी प्रसिद्ध है।

श्रद्धेय स्वामीजी महाराज, समुपस्थित संत मण्डली बन्धुओं, और देवियों, अभी जो पंक्तियाँ आपके सामने पढ़ी गई, उनके माध्यम से गोस्वामीजी व्यक्ति को आस्वासन देते हैं कि श्रीराम के नाम और रूप – दोनों ही नित्य हैं। ऐसे भक्त हुए हैं और आज भी हैं, जिन्हें भगवान के रूप का साक्षात्कार होता है। भले ही कुछ गिने-चुने भक्तों को भगवान के दर्शन होते हों, उनका साक्षात्कार होता हो, पर अधिकांश व्यक्तियों के हृदय में यही संस्कार है और उन्हें प्रत्यक्ष रूप से यही दिखाई भी देता है कि श्रीराम का जन्म त्रेतायुग में हुआ था। उन्होंने ग्यारह या तेरह हजार वर्ष तक अपनी लीला की और उसके पश्चात् वे अयोध्या के अपनी समस्त प्रजा को साथ लेकर अपने धाम चले गये।

आज के युग में भी हम सबके सामने वही समस्या हो, जो त्रेता युग में थी और यदि श्रीराम अपने धाम में चले गये, तो इन समस्याओं का समाधान कैसे किया जाय। गोस्वामीजी इन पंक्तियों में यह सूत्र देते हैं कि भगवान का रूप भले ही आज प्रत्यक्ष न हो, पर भगवान का नाम तो आज भी प्रत्यक्ष है। भगवान राम ने त्रेता युग में अवतार लेकर जो कार्य सम्पन्न किये, यदि कोई साधक भगवान के नाम का सही अर्थों में जप कर रहा है तो उसके जीवन में आज भी रामायण की सारी लीलाएँ सम्पन्न होंगी। इसलिये यदि रूप हमें नहीं भी दिखाई देता है, तो नाम के ही आश्रय से हम धन्यता प्राप्त कर सकते हैं।

इस सन्दर्भ में सबसे पहले उन्होंने अहल्या के उद्धार की बात कही और तदुपरान्त ताड़का का वध होता है। ताड़का का एक रूप ऐतिहासिक था और दूसरी ताड़का वह है, जो हम सबके जीवन में आज भी विद्यमान है। उस ताड़का को पहचानने की आवश्यकता है। रामायण में ताड़का की जो कथा आती है, उसी में अध्यात्म के सूत्र छिपे हुए हैं। इन पंक्तियों में गोस्वामीजी ने जो ताड़का का नाम लिया –

रिषि हित राम सुकेतु सुता की । १/२५/४

ताड़का राजा सुकेतु की कन्या थी। राजा सुकेतु नि:सन्तान थे और उनके हृदय में पुत्र पाने तीव्र लालसा थी। उन्होंने बड़ी चेष्टा की, तो भी उन्हें पुत्र तो नहीं मिला, परन्तु उनके घर में कन्या का जन्म हुआ। यह कन्या ही ताड़का थी। सन्तान पाकर यद्यपि राजा सुकेतु को कुछ प्रसन्नता हुई, पर पुत्र की अभिलाषा उनके मन में थी, अत: उनके आनन्द में थोड़ी-सी कमी जान पड़ी। पर उन्होंने उस कमी को दूर करने

के लिये पुत्री को ही पुत्र के रूप में देखा और उसकी शिक्षा-दीक्षा पुत्री की अपेक्षा पुत्रभाव से अधिक दी गई। राजा चाहते थे कि कन्या में ही हम पुत्रभाव का साक्षात्कार कर सकें। लेकिन राजा सुकेतु का यह चिन्तन घातक सिद्ध हुआ। उस कन्या के जीवन से सुकुमारता चली गयी और रुक्षभाव – कठोरता का उदय हुआ। उसकी वह कठोरता इस सीमा तक आगे बढ़ गई कि अन्ततः वह ऋषि-मुनियों को भी कष्ट देने लगी, उत्पीड़ित करने लगी। इस प्रकार वह राक्षसी हो गई।

राजा सुकेतु मनुष्य थे। उसकी पुत्री ताड़का भी मानवी थी, परन्तु वह अपनी इस वृत्ति के कारण राक्षसी हो गयी। इसके बाद उसके मन में रावण के प्रति आदर की भावना उत्पन्न हुई। ताड़का ने दो पुत्रों को जन्म दिया – एक मारीच और दूसरा सुबाहु। इन लोगों ने रावण की प्रेरणा से यज्ञों को नष्ट करना आरम्भ किया। ताड़का यज्ञों की घोर विरोधी थी और अपने पुत्रों को भी इसी दिशा में प्रेरित किया। दक्षिण भारत में दण्डकारण्य तक तो रावण की चौकी थी ही, पर उत्तर भारत में जहाँ महर्षि विश्वामित्र का आश्रम था, ताड़का, सुबाहु और मारीच उसके अत्यन्त निकट निवास करते थे।

बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी।
बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी ।। १/२०६/१

महर्षि विश्वामित्र अपने आश्रम में रहकर यज्ञ करते हैं, पर ताड़का, सुबाहु और मारीच के द्वारा उनका यज्ञ नष्ट कर दिया जाता है। महर्षि विश्वामित्र के मन में यह चिन्ता उत्पन्न होती है कि यह यज्ञ कैसे पूर्ण हो? जब उन्होंने अपने अन्तर्हृदय में समाधि का आश्रय लिया, तो उन्हें इस सत्य का बोध हुआ कि केवल ईश्वर के द्वारा ही इन राक्षसों का विनाश सम्भव है। तब वे महाराज दशरथ के पास जाते हैं और श्रीराम तथा लक्ष्मण को उनसे माँगकर अपने साथ लेकर लौटते हैं। मार्ग में आती हुई ताड़का पर सहसा उनकी दृष्टि जाती है। वे ताड़का की ओर संकेत करते हुए श्रीराम से कहते हैं – राम यही ताड़का है। ताड़का अत्यन्त विकराल रूप धारण कर श्रीराम-लक्ष्मण और विश्वामित्र की ओर दौड़ती है। महर्षि का संकेत पाकर प्रभु ने धनुष पर बाण चढ़ाया और एक ही बाण से ताड़का का वध कर दिया।

यह हुई ताड़का की ऐतिहासिक कथा। पर हम लोगों के जीवन में जो ताड़का है, यह क्या है? गोस्वामीजी ने अनेक रूपों में ताड़का की ओर संकेत किया। ज्ञान की दृष्टि से ताड़का क्या है, भक्ति की दृष्टि से ताड़का क्या है और कर्मयोग की दृष्टि से ताड़का का क्या रूप है?

गोस्वामीजी ने यहाँ जिन दो बातों पर बल दिया है, वह बड़ी समझने योग्य है। एक तो यह कि ताड़का यज्ञ की घोर विरोधी थी और दूसरा यह कि भगवान राम ने ताड़का का वध किया तो 'एक ही' बाण से किया। 'एक ही' शब्द पर बड़ा बल दिया। वे कह सकते थे कि श्रीराम ने ताड़का का वध कर दिया, उसे मार दिया, पर गोस्वामीजी 'एक' के साथ 'ही' शब्द जोड़ देते हैं –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। १/२०९/६

यह ताड़का कौन है? यज्ञ के विरोध का क्या तात्पर्य है? महर्षि विश्वामित्र की क्या भूमिका है? यदि आज हम अपने जीवन की ताड़का को नष्ट करना चाहें, तो कैसे भगवान के नाम का आश्रय लेकर इस ताड़का का वध हो सकता है, अब हम इसी पर संक्षेप में विचार करने की चेष्टा करेंगे।

ताड़का में क्रोध का अतिरेक है। अहल्या के जीवन में अनजाने ही काम का प्रवेश हो जाता है। ताड़का और अहल्या में अन्तर है। अहल्या बुद्धि है, दैवी वृत्ति है, परन्तु ताड़का तो राक्षसी है, दुर्वृत्ति है, इसीलिये भगवान ने दोनों के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार किया। यद्यपि दिखाई तो यही देता है कि यदि एक में काम का दोष था, तो दूसरे में क्रोध का। दोनों के साथ यदि न्याय किया जाता, तो दोनों को समान दण्ड या पुरस्कार दिया जाता। परन्तु भगवान दोनों के साथ अलग-अलग व्यवहार करते हैं। उस व्यवहार के मूल में महर्षि विश्वामित्र की प्रेरणा है। महर्षि ने ताड़का के लिये श्रीराम से कहा कि इसका संहार करो और अहल्या के लिये कहा कि इसका उद्धार करो। यही समझने की बात है।

दैवी वृत्ति में यदि दुर्गुण का प्रवेश हो गया है, तो उसे दूर करके उसके उद्धार की आवश्यकता है; परन्तु जिसमें कोई ग्लानि नहीं है, कोई पश्चाताप नहीं है, पाप के प्रति जिसका सहज आकर्षण है, वही राक्षसी वृत्ति है और उसका संहार ही अपेक्षित है। वैसे संहार और उद्धार – दोनों का उद्देश्य एक ही है। दोनों में परिणाम में भिन्नता नहीं है।

गोस्वामीजी यह बड़ा सुन्दर संकेत देते हैं। अहल्या का उद्धार किया, तो प्रभु ने उसे क्या दिया? बोले – भगवान ने अपना पद अहल्या के सिर पर रख दिया –

परसत पद पावन सोक नसावन ... । १/२११

और जब ताड़का का संहार किया, तब भी – उसे दीन जानकर अपना चरण प्रदान किया –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निजपद दीन्हा ।। १/२०९/६

पद की प्राप्ति दोनों को होती है। इस दृष्टि से ताड़का और अहल्या में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु प्राप्ति के मार्ग में भिन्नता है।

भगवान श्रीराम के दो गुरु हैं। एक तो अयोध्या में वशिष्ठजी हैं और बाद में विश्वामित्र के रूप में वे दूसरे गुरु का वरण करते हैं। भगवान राम के चरित्र में दोनों गुरुओं की भूमिका भिन्न-भिन्न है। महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में रहकर

भगवान शिक्षा – शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। भगवान श्रीराम यद्यपि परब्रह्म परमात्मा हैं, परन्तु मनुष्य के रूप में वे गुरु के द्वारा चरित्र का निर्माण तथा अपने अन्तर्जीवन के निर्माण की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। परन्तु गुरु वशिष्ठ की अपेक्षा महर्षि विश्वामित्र की भूमिका थोड़ी भिन्न है और वह भिन्नता विश्वामित्र के नाम में ही छिपी हुई है। विश्वामित्र शब्द के अर्थ से आप परिचित होंगे। यदि आप हिन्दी भाषा के अनुसार सन्धि-विच्छेद करें, तो शायद भ्रम हो जाय। हिन्दी व्याकरण के अनुसार तो विश्वामित्र का सन्धि-विच्छेद होगा विश्व+अमित्र, अर्थात् जो विश्व का शत्रु है, वह विश्वामित्र है। परन्तु संस्कृत में विश्वामित्र शब्द की सिद्धि के लिये एक अलग ही सूत्र बनाया गया है – 'मित्रे चार्षौ'। उसमें बताया गया है कि विश्व और अमित्र नहीं, बल्कि विश्व तथा मित्र सन्धि से विश्वामित्र शब्द बनता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो विश्व का मित्र है, वह विश्वामित्र है।

दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण व्यक्तिपरक और दूसरा दृष्टिकोण है विश्वपरक। प्रश्न उठता है कि व्यक्ति का निर्माण होना चाहिये या विश्व की समस्या का समाधान होना चाहिये? कुछ लोग व्यक्ति को ही सबसे अधिक महत्त्व देते हैं; और उसके पक्ष में भी अनेक तर्क हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति का निर्माण भी अत्यन्त आवश्यक है; लेकिन दूसरा पक्ष कहता है कि यदि केवल किसी व्यक्ति के चरित्र का निर्माण हो जाय और उसका जीवन धन्य हो जाय, पर यदि विश्व के अगणित स्त्री-पुरुष दुःख से संत्रस्त हो रहे हैं और उनकी समस्या का समाधान नहीं हो रहा है, तो समाज को तो व्यक्ति के उच्च चरित्र का लाभ नहीं मिला।

एक तो वैराग्यपरक मान्यता है। पुराणों में दिखाई देता है कि ऐसे वैराग्यवान महापुरुष और संन्यासी हुए हैं, जिन्होंने विश्व की ओर से अपने आप को पूरी तरह से उदासीन बना लिया। उन्होंने कहा कि विश्व का चक्कर तो छोड़ो, बस अपने आत्मानन्द में ही डूबे रहना चाहिये।

एक महात्मा कहा करते थे कि जो संसार को ठीक करने के फेर में पड़ा, वह अपनी ओर से भी गया। वे कुत्ते की पूँछ का एक दृष्टान्त भी देते थे। वे कहते – किसी व्यक्ति ने कुत्ते की पूँछ को टेढ़ी देखकर उसे सीधा करने के लिये उसकी पूँछ को एक पोली नली में डाल दिया। बहुत दिन तक उस नली में पूँछ रखने के बाद जब उसने नली से पूँछ निकाली, तो पूँछ ज्यों की त्यों टेढ़ी थी। उन्होंने कहा – बस, इसी तरह यह संसार न सुधरने वाला है, न बदलने वाला है। वह तो अपनी ही पद्धति से चलेगा। उसके चक्कर में हम अपना स्वयं का आनन्द खो बैठेंगे। अपने अन्तरंग रस को खो बैठेंगे। यह तो व्यर्थ की चेष्टा है।

इस विषय में 'राम-चरित-मानस' का दृष्टिकोण बड़ा ही सन्तुलित है। कुछ लोग विश्व और समाज की बात बहुत करते हैं, तो क्या विश्व और समाज की चिन्ता करके ही हम विश्व और समाज की सेवा कर सकते हैं? विश्वहित के लिये भी तो पहले व्यक्ति को अपने अन्तःकरण का निर्माण करना होगा। इसे दृष्टान्त के रूप में यों कहें कि यदि एक व्यक्ति यह निर्णय करे कि हम केवल अपनी ही नहीं, बल्कि दूसरों की भी प्यास बुझायेंगे। उद्देश्य तो बहुत बढ़िया है, लेकिन जिसने दूसरों की भी प्यास बुझाने का यह निर्णय किया है, यदि उसे टी.बी. हो गई है और वह जल बाँट रहा है, लोगों की प्यास बुझा रहा है। तो जो प्यासे हैं, वे जल जरूर पीयेंगे। लेकिन जब कोई टी.बी. का रोगी जल देगा, तो वह केवल जल ही नहीं देगा, वह तो जल के साथ अपना टी.बी. जीवाणु भी देगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति सेवा के लिये सन्नद्ध है, जो व्यक्ति समाज के लिये चिन्तित है, यदि वह स्वयं ही मनोरोग से ग्रस्त है, तो लोग स्वाभाविक रूप से उसकी सेवा को स्वीकार तो करेंगे, परन्तु वह सेवा के साथ-साथ अपने राग-द्वेष तथा अहंकार की वृतियाँ भी लोगों में प्रविष्ट करा देगा। इसका दर्शन समाज में सर्वदा होता रहा है और आज के समाज में यह बहुत अधिक दृष्टिगोचर होता है।

'राम-चरित-मानस' का दर्शन समन्वय का दर्शन है। इस दिव्य साधना-भूमि में, इस मिशन की जो धारा प्रवाहित हो रही है, इसके मूल में जो दर्शन है, वह 'मानस' के दर्शन से सर्वथा एकाकार है। दोनों की मान्यता बिल्कुल एक ही है।

गोस्वामीजी ने सर्वत्र व्यक्ति और समाज – इन दोनों को, अंग और शरीर के समान अभिन्न माना है। यदि पूछा जाय कि अंग की चिन्ता करनी चाहिये या पूरे शरीर की? तो इसका उत्तर तो यही है कि लक्ष्य तो पूरा शरीर है, पर पूरे शरीर के लिये हम अलग-अलग अंगों का व्यायाम क्यों करते हैं? हम अलग-अलग अंगों की सुरक्षा की चिन्ता क्यों करते हैं? क्योंकि हम जानते हैं कि प्रत्येक अंग की स्वस्थता के लिये अलग-अलग उपाय अपेक्षित है। प्रत्येक अंग जब स्वस्थ होगा, तभी शरीर स्वस्थ रहेगा। शरीर स्वस्थ रहेगा, तो व्यक्ति के अंग सक्रिय रहेंगे।

श्रीराम के जीवन में गुरु वशिष्ठ और गुरु विश्वामित्र की क्या भूमिकाएँ हैं? गुरु वशिष्ठ श्रीराम को बाल्यावस्था में ही राक्षसों के वध या लोक कल्याण के लिये भेज नहीं देते।

गुरु गृहँ गए पढ़न रघुराई।
अलप काल बिद्या सब आई।। १/२०४/४

भगवान श्रीराघवेन्द्र जब बाल्यावस्था में प्रवेश करते हैं, उसी समय गुरु वशिष्ठ के आश्रम में उन्हें भेज दिया जाता है। और गुरु वशिष्ठ उन्हें जो शिक्षा देते हैं उसमें ऐसा नहीं दिखाई देता कि वे संसार की, लोक कल्याण की भावना से

चिन्तित हैं। पर उन्होंने अपनी पद्धति से भगवान श्रीराम का पूरी तरह से मानव रूप में निर्माण कर दिया। गोस्वामीजी कहते हैं – चारों भाई विद्या, विनय गुण तथा शील में निपुण हैं और राजाओं के लीलाओं के ही खेल खेलते हैं –

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी ।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ।।
बिद्या बिनय निपुन गुन सीला ।
खेलहिं खेल सकल नृप लीला । १/२०४/५-६

इस प्रकार गुरु वशिष्ठ के आश्रम में श्रीराम राजनीति और धर्म की शिक्षा प्राप्त करते हैं। गुरु वशिष्ठ के इस शिक्षणालय में ही उनके हाथ में धनुष तथा बाण भी दिया जाता है। भगवान श्रीराम शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा पूरी करते हैं –

करतल बान धनुष अति सोहा ।
देखत रूप चराचर मोहा ।। १/२०४/७

यह वैयक्तिक निर्माण है। पहला जो निर्माण होगा, साधना का जो श्रीगणेश होगा, वह व्यक्ति से होगा। व्यक्ति अपने निर्माण के बाद, फिर अपने निर्माण का लाभ विश्व को दे, यह उसके लिये परम आवश्यक है। इसीलिये सूत्र यह है कि गुरु वशिष्ठ ने भगवान श्रीराम को शिक्षा दी, परन्तु आगे की भूमिका में वे कहीं दिखाई नहीं देते।

दूसरी ओर, महर्षि विश्वामित्र वैश्विक-भावना से ओतप्रोत हैं। उनके मन में विश्व-कल्याण की उत्कट आकांक्षा विद्यमान है। वे वन में निवास करते हुए इसी हेतु यज्ञ करते हैं –

बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी ।
बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी ।।
जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं ।। १/२०६/२-३

ऐसी बात नहीं कि महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में यज्ञ न होता रहा हो। परन्तु वशिष्ठ के आश्रम में यज्ञ का विशेष वर्णन न करके विश्वामित्र के आश्रम के यज्ञ का वर्णन किया गया। कारण यह कि विश्वामित्र का दृष्टिकोण यज्ञपरक है। उनकी धारणा यज्ञात्मक है। यज्ञ के अर्थ से आप परिचित हैं। कुछ कर्म ऐसे हैं, जिन्हें व्यक्ति अपने लिये करता है। करना पड़ता है और करना उचित भी है। परन्तु व्यक्ति यदि केवल अपने ही लिये कर्म करे और वह माता-पिता या जिस समाज में रह रहा है, उसे विस्मृत कर दे, तो क्या यह उचित होगा? यहाँ हमारे जो सगे-सम्बन्धी हैं, माता-पिता, गुरु तथा समाज – उन सबके तो हम कृतज्ञ हैं ही; परन्तु व्यक्ति केवल इस लोक से ही नहीं जुड़ा हुआ है। इनके साथ-ही जो दैवी शक्तियाँ हैं, उनके मूल में भी ईश्वर है और व्यक्ति उन सबसे कुछ-न-कुछ पा रहा है।

तो यज्ञ का क्या अभिप्राय है? यज्ञ की धारणा व्यक्ति के लोभ से जुड़ी है। जहाँ पर व्यक्ति में लेने की वृत्ति है, वहाँ लोभ की वृत्ति है। लोभ के तीन रूप हैं। एक व्यक्ति लोभी है और वह अपने पुरुषार्थ से पाना चाहता है। दूसरा व्यक्ति लोभी है, परन्तु वह पाने के लिये छीनने में भी संकोच नहीं करता। जो लोभ की पूर्ति के लिये दूसरों से छीनने में, दूसरों को कष्ट देने में, संकोच का अनुभव नहीं करता, वह राक्षसी वृत्ति का है। फिर एक तीसरे प्रकार का व्यक्ति भी है, जो पाना तो चाहता है, परन्तु उसके मन में देने की भावना भी विद्यमान है। यही यज्ञ की वृत्ति है।

तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति यज्ञ कर रहा है, वह भी लोभ से पूर्णतः मुक्त नहीं है, परन्तु पाने के बाद वह यह मानकर चलता है कि हमने जिन शक्तियों की कृपा से तथा जिन व्यक्तियों के सहयोग से यह सब पाया है, उन सबको देना भी हमारा कर्तव्य है। गीता में भगवान जब यज्ञ की व्याख्या करते हैं, तो वहाँ आप यही बात देखते हैं – "जब ब्रह्मा ने प्रजा की सृष्टि की, तो उन्होंने अपने निर्मित सृष्टि के जीवों से कहा कि ये देवता तुम्हारी भावना और कामना को पूर्ण करे और तुम इनकी पूजा करके इनको सन्तुष्ट करो" –

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । ...
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। ३/१०-११

समाज से लेकर स्वर्गलोक और उससे भी आगे ब्रह्मलोक तक – व्यक्ति स्वयं को विराट् के एक अंग के रूप में सबसे जुड़ा हुआ अनुभव करे और सबके लिये प्रतिदान के रूप में कुछ करने की चेष्टा करे – यही यज्ञ है। वशिष्ठजी भी इस सत्य को मानकर चलते हैं, परन्तु उनके चरित्र का मूल सूत्र भिन्न है। महाराज दशरथ के लिये पुत्रेष्टि यज्ञ कराने की जरूरत पड़ी। पुत्रेष्टि यज्ञ का अर्थ है – पुत्र की कामना से कराया जानेवाला यज्ञ। पर वहाँ भी आचार्यत्व वशिष्ठजी ने स्वीकार नहीं किया; इसके लिये शृंगी ऋषि को बुलवाया –

सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा ।
पुत्रकाम सुभ जग्य करावा ।। १/१८९/५

शृंगी ऋषि की कथा भी बड़ी सांकेतिक है। वर्षा नहीं हो रही थी। अकाल पड़ गया। प्रजा संकट में पड़ गई। अब अवर्षण कैसे दूर हो? शृंगी ऋषि के चरित्र में निष्कामता और पवित्रता की पराकाष्ठा थी और यह माना गया कि यदि इस देश में महर्षि शृंगी के चरण पड़ जायँ, तो वर्षा हो सकती है। इतने दिव्य महापुरुष थे वे ! उनको विविध रूपों में चेष्टा करके किसी तरह लाया गया और उनके आगमन से ही वर्षा हो गई। यहाँ भी शृंगी ऋषि का मूल तत्त्व यही है। जिसमें अवर्षण दूर करने की तथा लोक का कष्ट दूर करने की क्षमता विद्यमान है; जो अवर्षण को दूर करने के लिये अपनी शक्ति और क्षमता का प्रयोग करते हैं और लोगों का कष्ट दूर होता है। वशिष्ठजी ने दशरथजी को आदेश दिया कि यह पुत्रेष्टि यज्ञ शृंगी ऋषि के आचार्यत्व में ही सम्पन्न होगा।

यज्ञ का अर्थ है – आदान-प्रदान की वृत्ति।

रावण या ताड़का, मारीच या सुबाहु – ये यज्ञ के विरोधी हैं। इसका तात्पर्य क्या है? रावण का जीवन-दर्शन है – दूसरों से छीनकर, केवल अपने लिये पाने की, केवल अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति की चेष्टा। रावण यज्ञ का घोर विरोधी है। क्यों? वह तो छीन-झपट की नीति में विश्वास रखता है। कुबेर उसका बड़ा भाई है। उसके बने-बनाये नगर को देखा, तो रावण को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसकी वृत्ति क्या है? सोने का बना हुआ सुन्दर नगर देखकर, यदि व्यक्ति को स्वयं भी सोने का नगर बनाने की इच्छा हो, तो वह उसके लिये पुरुषार्थ करेगा और करना भी चाहिये। पर रावण की वृत्ति क्या है? स्वर्ण का नगर बनाने के लिये परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है ! क्यों न इसी को छीन लिया जाय। बड़े भाई के पास यदि अच्छा विमान है, तो विमान भी छीन लिया जाय। अगर सुन्दरियाँ हैं, तो उन्हें भी छीन लिया जाय। यही राक्षसी वृत्ति है, विश्व-विरोधी भावना है। रावण को केवल अपने वैयक्तिक सुख और स्वार्थ की चिन्ता है।

वैयक्तिक सुख की भी दो दृष्टियाँ हैं। एक वैयक्तिक सुख चाहनेवाले राक्षसी वृत्ति के हैं और दूसरे विरक्त वृत्ति के हैं। विरक्त वृत्तिवाले जब वैयक्तिक सुख में संलग्न होते हैं, तो उनका सुख बहिरंग न होकर आत्मिक होता है। उनका सुख दूसरों को दुखी बनाकर नहीं होता। दूसरी ओर राक्षस तो अपने वैयक्तिक सुख-भोग के लिये दूसरों को दुःख-कष्ट पहुँचाने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करते। इसलिये इन दोनों के बीच विरोध है। एक ओर हैं विश्वामित्र और दूसरी ओर है रावण, ताड़का, मारीच तथा सुबाहु।

यज्ञ में एक बड़ा सुन्दर जीवन-दर्शन है। यज्ञ की प्रक्रिया की आप ज्ञानमूलक व्याख्या कर लीजिये, भक्तिमूलक व्याख्या कर लीजिये या कर्ममूलक व्याख्या कर लीजिये – यज्ञ की विविध रूपों में व्याख्या हुई है। यज्ञ की प्रक्रिया में अरणि-मन्थन से अग्नि उत्पन्न किया जाता है। उसके बाद जौ, तिल, चावल और घृत के द्वारा शाकल्य बनाया जाता है। उसके द्वारा देवताओं के नाम से आहुति दी जाती है और उसके द्वारा देवताओं की प्रसन्नता होती है। दूसरी ओर यदि ज्ञानात्मक दृष्टि से विचार करें, तो यह अरणि-मन्थन क्या है?

साधारणतः जब हम लोग घर में हवन करते हैं, तो आग माँगकर उसमें लकड़ी जलाकर हवन कर लेते हैं, उसी में आहुति डाली जाती है। पर यज्ञ की प्राचीन परम्परा में मंत्र का उच्चारण करते हुए लकड़ी के दो टुकड़ों का आपस में घर्षण किया जाता था। उस घर्षण से जब अग्नि उत्पन्न होती थी, तो उसी में आहुति दी जाती थी।

शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से यह अरणि-मन्थन क्या है? जैसे अग्नि लकड़ी में सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे रही है और हमें उसका प्रत्यक्ष लाभ भी नहीं मिल रहा है। पर जब हम उसका घर्षण करते हैं, तो अग्नि प्रगट हो जाती है; इसी प्रकार साक्षात् ब्रह्म भी सर्वव्यापक है। और उसको घर्षण के द्वारा पहले हमें अपने जीवन में प्रगट करना होगा –

एकु दारुगत देखिअ एकू ।
पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ।। १/२३/४

और वह घर्षण क्या है? प्रारम्भ में हम ज्ञान के द्वारा, विचार के द्वारा ईश्वर की सर्वव्यापकता को जाने। यह ज्ञान की भूमिका है। फिर जान लेने के बाद हम अपने प्रेम के द्वारा, अपने मन्थन के द्वारा उस अव्यक्त तत्त्व को व्यक्त बनाने की चेष्टा करें –

अग जगमय सब रहित बिरागी ।
प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ।। १/१८५/७

फिर यह आहुति क्या है? इस आहुति में संकेत के रूप में अगर देखें, तो जो तीन वस्तुएँ हवन में डाली जाती हैं, उन तीनों के रंग में आपको भिन्नता दिखाई देगी। जौ पीला है, चावल सफेद है और तिल काला है। इन तीनों को घी में मिलाकर आहुति दी जा रही है। इस तिरंगे अन्न का क्या अभिप्राय है? व्यक्ति के जीवन में ये तीनों रंग विद्यमान हैं। हमारे कर्म में सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण – तीनों का मिश्रण है। चावल का सफेद रंग मानो सत्त्व का प्रतीक है। जौ का पीला रंग रजोगुण का और तिल का काला रंग तमोगुण का प्रतीक है। जब शरीर ही त्रिगुणात्मक है, तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि हमारे किसी कर्म में त्रिगुण का अभाव हो। घृत को संस्कृत में 'स्नेह' कहते हैं। तो जब आप स्नेहपूर्ण अन्तःकरण से अपने समस्त कर्मों की आहुति के रूप में ईश्वर के प्रति समर्पित करते हैं, तो मानो उस ज्ञानात्मक यज्ञ के द्वारा हम समस्त कर्मों से मुक्त होकर ईश्वर की प्रियता या ईश्वर से एकाकारता प्राप्त करते हैं।

यत्करोसि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।९/२७

दूसरी ओर भौतिक स्तर पर इसका अभिप्राय है कि आप यज्ञ में शास्त्रीय विधि से मंत्रों का प्रयोग करते हुए ठीक-ठीक विश्वास के साथ आहुति देंगे। इस प्रकार यज्ञ में तीन संकेत हैं – यज्ञ में उसका देवता है, विधि है और विश्वास है। विधि बुद्धि का और विश्वास हृदय का पक्ष है। विधि तथा विश्वास के ठीक-ठीक पालन से देवता को प्रसन्न किया जाता है और देवता उसके बदले में हमारी इच्छा को पूर्ण करते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

गीता का सन्देश

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि में युद्धोद्यत सेनाओं के समक्ष गीता का उद्‌गीरण हुआ। अर्जुन जब मोह में पड़कर अपना कर्त्तव्य भूल जाते हैं और अज्ञानवश एक ऐसी राह में जाना चाहते हैं, जो उनकी अपनी नहीं है, तब श्रीकृष्ण को गीता के रूप में सन्देश देने की आवश्यकता पड़ी। अतः गीता वह प्रेरणा है, जो विभ्रमित मानव को रास्ता दिखाती है, जो उसके यथार्थ कर्मपथ का स्मरण करा देती है। वह हमें ज्ञान के आधार पर संसार में खड़े रहने का मार्ग बताती है। जब हम जीवन की भूलभुलैया में भटक जाते हैं, उस समय वह मार्ग-प्रदर्शक बनकर आती है। जब हम आलस्य से अकर्मण्य बन जाते हैं, अथवा किसी प्रकार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अपने कर्त्तव्य कर्मों को छोड़कर दूर भाग जाना चाहते हैं, तब वह कर्म की प्रेरणा लेकर हमारे सामने उपस्थित होती है। इसीलिए गीता को योगशास्त्र भी कहा गया है। योगशास्त्र का तात्पर्य उस आध्यात्मिकता से है, जो केवलमात्र सैद्धान्तिक न हो, प्रत्युत जो जीवन में गतिशील हो सके, व्यावहारिक बन सके।

कई लोगों का मत है कि जो घर-बार छोड़कर संन्यासी बनना चाहते हैं, उन्हीं के लिए गीता पठनीय है, गृहस्थों के लिए नहीं। पता नहीं कि यह तर्क सर्वप्रथम किसने उपस्थित किया था। जिसने भी किया हो, उसने गीता का अध्ययन नहीं किया है। यदि गीता का उद्देश्य वही होता, तब अर्जुन को कृष्ण युद्ध करने के लिए क्यों प्रेरित करते? अर्जुन के मन में वैराग्य की भावना आई-सी लगती है। वे हाथ के कार्य को छोड़कर कहीं दूर जंगल में चले जाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में कृष्ण उन्हें उत्साह प्रदान करते, उनका हौसला बढ़ाते। पर ऐसा तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता, उल्टे उलाहना के स्वर में वे अर्जुन से कहते हैं - ऐसे विषम समय में यह कायरता क्यों? वे अर्जुन को तरह-तरह से युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं।

उनकी जो मुख्य सीख है, वह कुछ इस प्रकार है – मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्म से नहीं डिगना चाहिए। कुछ परिस्थितियों के कारण यदि कोई व्यक्ति सहसा अपनी मनोवृत्ति को दूसरी दिशा में मोड़ने लगता हो, तो यह समझना चाहिए कि वह अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म नहीं कर रहा है। इस प्रकार का कर्म ही परधर्म कहलाता है। मनुष्य यदि निष्ठा के साथ अपने कर्म में लगा रहे, तो धीरे-धीरे उसे आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती जाती है। कोई भी कर्म अपने आप में ऊँचा या नीचा नहीं है, मनुष्य की दृष्टि ही कर्म को निम्न या उच्च बना देती है। हो सकता है, कोई कर्म बाहरी रूप से श्रेष्ठ दिखे, पर यदि उस कर्म को करनेवाला निम्न और विपरित भावों से भरा हो, तो वह कर्म उस व्यक्ति के सन्दर्भ में कभी भी उच्च नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, हो सकता है कि कोई कर्म ऊपर से घृणास्पद मालूम पड़ता हो, पर यदि कर्ता का मनोभाव उच्च कोटि का है, तो वह कर्म श्रेष्ठ बन जाता है, भगवान् की पूजा का अंग बन जाता है। गीता की भाषा में कहें तो वह एक यज्ञ बन जाता है। गीता की शिक्षा का निचोड़ यह है कि प्रत्येक कर्म को यज्ञस्वरूप बना लो। जिस प्रकार यज्ञ के लिए वेदी की आवश्यकता होती है, हवन-कुण्ड का प्रयोजन होता है, उसमें आहुतियाँ देनी पड़ती हैं, उस प्रकार का कुछ भी इस कर्म-यज्ञ में नहीं करना पड़ता। इसमें तो कर्ता का शरीर ही मानो वेदी है, ईश्वर का स्मरण ही हवन-कुण्ड है, और समर्पण-भाव ही आहुतियाँ हैं। जब हम ईश्वर को समर्पित करते हुए जीवन के कर्मों को करते हैं, तो वे कर्म हमें बाँध नहीं पाते। गीता में कहा गया है –

ब्रह्मणि आधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रं इव अम्भसा ॥

– अर्थात् तब हमारी स्थिति जल में रहनेवाले कमल के पत्ते के समान हो जाती है। कमल का पत्ता जल में रहता तो है, पर उससे लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार हम संसार में रहते तो हैं, पर उससे लिप्त नहीं हो पाते। यह गीता की सबसे बड़ी सीख है। यही गीता का कर्मयोग है।

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

आत्माराम के संस्मरण (१७)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

रावलपिंडी – अमरनाथ से लौटकर

रावलपिंडी लौटकर संन्यासी 'तपोवन' नामक एक सन्त-निवास में ठहरा। यह रामबाग से दूर जंगल के बीच एक बिल्कुल एकान्त स्थान में था। संन्यासी जब जगह देखने गया, तो देखा – एक वृद्ध खालसा सिख एक चारपाई पर लेटे हुए हैं। बाकी सब कमरे खाली हैं। ४-५ कमरे थे और एक बड़ा हॉल था, जिसमें डेढ़-दो सौ लोग बैठ सकते थे।

खालसा लोग वस्तुत: गुरु गोविन्दसिंह के अपने सरदारों के वंशज हैं। कहते हैं कि उन्होंने सेवक-सैनिकों को एकत्र करने के लिये एक उपाय किया था। मुसलमानों के राज्य में बहुत-से लोगों का समागम उन लोगों को पसन्द नहीं आता था। इसीलिये गुरुजी ने घोषणा करवा दी कि अमृतसर के दुर्गियाना – दुर्गा देवी के मन्दिर में एक लाख लोगों की बलि दी जायेगी। इसके लिये अमुक दिन सब लोग वहाँ आ जायँ – ऐसा ढिंढोरा पिटवा दिया गया। मुसलमानों ने सोचा – "चलो, अच्छा ही हुआ। मरने दो इन मूर्खों को।" बलि देखने के लिये असंख्य लोग एकत्र हुए। उन्होंने घोषणा की कि एक-एक बलि होगी और उसके साथ घण्टे तथा नगाड़े बजेंगे। इसके बाद वे लोगों को सम्बोधित करते हुए बोले – "जो कोई भी जगदम्बा को सिर देने के लिये तैयार हो, वह आगे आ जाय। सिर देनेवाला अमर हो जायेगा।" कुछ देर बाद एक व्यक्ति आया। उसको वे मन्दिर के भीतर ले गये। कुछ देर बाद घण्टे-नगाड़ों की आवाज आयी। इसके बाद उन्होंने पुन: आह्वान किया और एक जन फिर उठकर उनके साथ भीतर गया और एक बार और घण्टे-नगाड़ों की आवाज आयी। इसी प्रकार पाँच बार होने के बाद उन्होंने कहा – "बड़ी खुशी की बात है कि बलि एक लाख की जगह पाँच लाख की चढ़ाई गयी।" इसके बाद उन्होंने मन्दिर का दरवाजा बन्द कर दिया। (वस्तुत: भीतर ले जाकर उन्होंने मनुष्यों की नहीं, बल्कि बकरों की बलि दी थी। पाँच आत्म-बलिदानी वीरों को चुनने का उनका यह एक अभूतपूर्व तरीका था।) मातृभूमि के चरणों में बलि के रूप में प्रस्तुत हुए वे पाँच लोग ही – 'गुरुजी का खालसा' हुए। उन्हीं के द्वारा उन्होंने सिक्ख सम्प्रदाय की नींव रखी और मुसलमान साम्राज्य के विरुद्ध क्रान्तिकारी युद्ध आरम्भ किया। खालसा के पाँच चिह्न हुए – कंघा, केश, कच्छा, कृपाण और कड़ा। ये पाँच वीर सिख सम्प्रदाय के शीर्ष स्थानीय हुए।)

संन्यासी को देखते ही खालसा ने कहा – "आइये, आइये। आपका सामान कहाँ है?"

संन्यासी – "यहाँ रहा जा सकता है?"

खालसा – "खूब, जितने दिन खुशी हो, रहिये। देख लीजिये, सारे कमरे खाली हैं। जो कमरा अच्छा लगे, उसी में आसन लगाइये। भिक्षा की भी व्यवस्था है – शाम को एक बार भरपेट रोटी, खिचड़ी, सब्जी तथा दूध खिलाते हैं। फिर साबुन तथा साफी (गमछा) भी देते हैं। बादाम, चीनी तथा सरदाई (ठण्डाई या शरबत) बनाने की चीजें देते हैं।"

संन्यासी – "वाह, तब तो बड़ी सुन्दर व्यवस्था है।"

खालसा – "सुबह के समय शहर में भिक्षा मिलती है।"

परन्तु संन्यासी के लिये वह एक समय का भोजन यथेष्ठ था। पेट के लिये दुबारा जाने की कोई जरूरत नहीं थी।

बस, संन्यासी ने रामबाग से अपना आसन लाकर एक कमरे में लगा लिया। हर कमरे में रस्सी से बुनी हुई एक चारपाई, सरसों के तेल से जलने वाला एक दीपक और खाट के ऊपर एक साधारण सी चटाई रखी हुई थी।

खालसा तपोवन के मालिक सरदार बूटासिंह को सूचना देने चला गया। संध्या के पूर्व ही खूब घी लगायी हुई रोटियाँ, खिचड़ी, घी में बनी सब्जी और पूरा आधा सेर दूध ले आया। खाना देने के बाद वह व्यक्ति मत्था टेककर चला गया। जाने के पहले कहता गया कि अगले दिन वह फिर इसी प्रकार आयेगा और साबुन, साफी तथा बादाम आदि सुबह खालसा के हाथों भेज देगा।

वर्षा का मौसम था। कमरे में उमस थी। इसलिये उधर की प्रथा के अनुसार छत पर सोने की व्यवस्था हुई। छत पर भी तीन चारपाइयाँ तथा चटाइयाँ पड़ी थीं। खालसा पहले ही जाकर लेट गया था। संन्यासी थोड़ी देर बाद बाहर का द्वार बन्द करके ऊपर गया। आँगन के एक ओर ऊँची दीवार थी, उसी में बाहरी द्वार बना हुआ था।

अभी-अभी संध्या हुई थी। दोनों काश्मीर के बारे में, वहाँ की रीति-रिवाजों के बारे में बातें कर रहे थे। सहसा खालसा

की नजर बन्द दरवाजे की ओर गयी। – ''यह आपने क्या किया? सर्वनाश ! मार खाकर प्राण चले जायेंगे। जाइये, जाइये, दरवाजा खोल आइये। पहले खोल आइये, फिर बताऊँगा कि क्यों !''

संन्यासी के जाकर खोल आने पर वह बोला – ''रात को इसी जंगल में डकैत, खूनी आदि एकत्र होते हैं। कभी-कभी वे लोग इस छत पर आकर बैठते हैं और गुफ्तगू करते हुए योजना बनाते हैं। किसी के बोलने पर उसे मारते हैं। शुरू-शुरू में मुझे मार खानी पड़ी थी, कपड़े-कम्बल आदि सब छीन लिये थे। किसी नये व्यक्ति के आते ही वे एक बार खबर लेते हैं; इसीलिये तो इतनी सुविधाएँ होने के बावजूद यहाँ साधु लोग रहते नहीं। मैं मार खाकर भी पड़ा हूँ, इसलिये मुझे अब कुछ नहीं कहते। द्वार चौबीसों घण्टे खुले ही रहते हैं और किसी के आने पर मैं पूछता भी नहीं कि कौन है? आप भी कुछ मत पूछियेगा और दरवाजे को कभी बन्द मत कीजियेगा। वे लोग रात को आयें, तो मुरदे के समान पड़े रहियेगा। पढ़ाई आदि मत कीजियेगा। यदि आकर कुछ माँगें, तो रहने पर दे दीजियेगा और चुप रहियेगा।''

संन्यासी – ''तो आपने पहले क्यों नहीं बताया कि इस प्रकार रहना पड़ेगा?''

खालसा (थोड़ा हँसकर) – ''बता देता, तो क्या आप यहाँ आते ! यहाँ दो बातें करने के लिये भी कोई नहीं मिलता। आपको पाकर मैं बड़ा आनन्दित हूँ।''

खालसा वहाँ इसलिये पड़ा था कि उसका अन्य कोई आश्रय नहीं था। बच्चे हैं, परन्तु वे लोग अत्याचार करते हैं, कष्ट देते हैं, इसीलिये वह उन लोगों से कोई सम्पर्क नहीं रखता। तपोवन के मालिक सरदार बूटासिंह बड़े उदार तथा सज्जन व्यक्ति हैं। उन्होंने कहा है कि पड़े रहो, इसीलिये ये निश्चिन्त होकर पड़े हैं।

रात के ग्यारह बजे से अधिक का समय हो गया था। सहसा पाँवों की आहट सुनते ही खालसा ने इशारे से चुप रहने को कहा। चार हट्टेकट्टे लोग धीरे-धीरे छत पर आये और एक बार नजर घुमाकर देखने के बाद छत के एक कोने में बैठकर आपस में कुछ बातचीत करने लगे। पश्तो भाषा में और धीमी आवाज में – कुछ समझने का उपाय न था। संन्यासी चुपचाप मुरदे की भाँति लेटा रहा। लगभग एक घण्टे रहकर वे लोग चले गये।

उनके मकान से बाहर दूर तक चले जाने के बाद खालसा ने कहा – ''तुम्हारा भाग्य अच्छा है। ये ही हैं डकैतों के सरदार। अब तुम्हारे लिये भय की कोई बात नहीं। ये और कुछ नहीं बोलेंगे।'' संन्यासी वहाँ करीब डेढ़ महीने रहा, परन्तु सचमुच ही उन लोगों ने कुछ नहीं कहा। वे लोग प्राय: ही आया करते थे।

अगले दिन सरदार बूटासिंह स्वयं ही खाना लेकर आये थे। साथ में नौकर था, परन्तु उसके हाथ में नहीं दिया। संन्यासी के कहने पर बोले – ''सन्त की सेवा करने का अधिकार पाना बड़े भाग्य की बात है। रोज तो यह आता है, एक दिन मैंने भी सेवा का अधिकार लिया।''

धन्य हो सन्त-सेवक सरदार बूटासिंह !

अनुभवानन्द काश्मीर से लौटने के बाद ही रामबाग में बीमार पड़ गये थे। संन्यासी उनकी चिकित्सा के लिये उन्हें साथ लेकर मेरठ गया।

फरीदपुर की विशेष घटना (१९२२)

वकील प्रकाश बाबू (जो बाद में संन्यासी हुए) के आग्रह पर संन्यासी फरीदपुर (अब बांग्लादेश में) गया। वर्षा का मौसम था। वहाँ एक अन्य व्यक्ति के साथ (नाम सम्भवत: श्री योगेन्द्र दास था) परिचय हुआ। ये जाति के नम:शुद्र थे। ये फर्स्ट क्लास एम.ए., बी.एल. (M.A., B.L.) वकील थे। बड़े सज्जन व्यक्ति थे। संन्यासी के पास प्राय: ही आते और धार्मिक प्रश्न आदि करते। स्वामी विवेकानन्द पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी और वे उनकी पुस्तकें संन्यासी के निर्देशानुसार बड़े आग्रहपूर्वक पढ़ते थे। यह उन्हें बड़ा अच्छा लगता था।

एक दिन दोपहर के दो-ढाई बजे आकर उपस्थित हुए। नेत्र-मुख लाल थे। आते ही बोले – ''ईसाई हो जाने का निश्चय किया है। जिस धर्म में ऐसी दगाबाजी है, उस धर्म में रहना नहीं चाहता। मेरे अधिकांश सगे-सम्बन्धी ईसाई हैं। मुझे भी बहुत प्रलोभन दिया गया, परन्तु मैं नहीं हुआ। मगर अब रहा नहीं जाता।'' आदि आदि।

संन्यासी तो अवाक् रह गया। इस व्यक्ति ने ऐसा संकल्प कर लिया है ! आखिर इतनी नाराजगी का क्या कारण है !

संन्यासी ने कहा – ''बैठिये, बैठिये ! हुआ क्या, मुझे बताइये तो। मुझे तो कुछ मालूम नहीं है – यदि अपमानजनक कुछ हुआ हो।''

सज्जन – ''नहीं जानते? पिछली रात भ. महाशय की पुत्री के विवाह के उपलक्ष्य में भोज की व्यवस्था हुई थी, बार के सभी लोग निमंत्रित हुए थे। मुझे भी निमंत्रण मिला था। लगता है आपको नहीं बुलाया।''

संन्यासी – ''संन्यासी को विवाह आदि के उपलक्ष्य में निमंत्रण देना निषिद्ध है। अत: कोई बात नहीं, परन्तु बात क्या हुई, यह बताइये।''

सज्जन – ''खाने के लिये जब बुलावा आया, तो सभी के साथ मैं भी गया, परन्तु गृहस्वामी ने आकर कहा कि उनका एक विशेष कार्य करना है और वह यह कि लोगों का स्वागत करने के लिये कोई नहीं है। सभी बैठ गये हैं। यह

कार्य कर देने से वे बड़े आभारी होंगे। यह कहकर वे मेरा हाथ पकड़कर पंगत से उठाकर बैठकखाने में ले गये। ब्राह्मण का घर था और वे वकीलों के नेता थे, इसलिये उनके घर में ऐसा अधिकार पाकर मेरे मन में प्रसन्नता ही हुई थी। परन्तु सबका खाना-पीना हो जाने के बाद काफी रात हो जाने पर भी गृहस्वामी दिखाई नहीं दिये। पूछने पर पता चला कि वे भोजन आदि करने के बाद विश्राम कर रहे हैं। नौकर-चाकर उस समय खाने के लिये बैठ रहे थे।

"वे लोग बोले – बाबू, आपका तो खाना नहीं हुआ। खायेंगे क्या? अब भी बचा है। भूख लगी थी, इसलिये एक किनारे बैठकर कुछ खाने के बाद मैं घर लौट आया। सोचा कि कामकाज के आधिक्य में मेरी बात भूल गये होंगे।

"परन्तु बात ऐसी नहीं थी। आज कचहरी में एक मित्र से पता चला कि मुझे पंगत से उठाकर ले जाना और मेहमानों के स्वागत का भार देना – उनका चालाकी के द्वारा मुझे वहाँ से उठाने का उपाय था, क्योंकि मैं निम्न जाति का हूँ।

"जिस धर्म में ऐसा व्यवहार किया जाता है, मैं उस धर्म में नहीं रहना चाहता।"

संन्यासी – "यह क्या कहते हैं! सचमुच ही यह बड़े दु:ख की बात है। और निमंत्रण देकर ऐसा व्यवहार करना तो नीच का कार्य है। एक तरह से देखा जाय तो आपके अपमान से अन्य सभी लोग अपमानित हुए हैं। परन्तु इस पर क्रोधित होकर अन्य धर्म ग्रहण करना भूल होगी। आप तो एक विद्वान् व्यक्ति हैं। आपके लिये ऐसा सोचना शोभनीय नहीं होगा। और आप तो सुधार लाना चाहते हैं, तो समाज से बाहर जाने से वह नहीं कर सकेंगे। अब तक जितने लोग इस प्रकार समाज से बाहर गये हैं, दूसरा धर्म ग्रहण किया है, उनमें से कोई भी समाज की भूल को सुधार नहीं सका है। पूरे हिन्दू समाज का इतिहास इसका साक्षी है। बाहर जाकर चाहे कोई कितना भी बोले, वह समाज के दृढ़ चर्मावरण को भेदकर भीतर नहीं जाता। इसलिये सुधारकों को चाहिये कि वे भीतर रहकर ही प्रयास करें – तभी धक्का देना, प्रहार करना आदि उपयोगी हो सकता है। अचानक ही कुछ कर मत बैठियेगा। सोचकर देखिये!" (चाय का समय हो जाने से) मेरे साथ चाय पीने में आपको कोई आपत्ति तो नहीं है?"

सज्जन – "आप कहते क्या हैं! आपके प्रति मेरी श्रद्धा है, इसीलिये तो आपके पास दौड़कर आया हूँ। आपके सच्चे स्नेह तथा प्रीतिपूर्ण व्यवहार ही मुझे आपके पास खींच लाया है। इतना समझ गया हूँ कि आप जाति-वाति के ऊपर हैं।"

संन्यासी – "(चाय पीते हुए) हाँ, जल्दबाजी में कोई कदम उठाना भूल होगी, इसीलिये शान्त हो जाइये। प्रकाश बाबू आ जायँ, उसके बाद देखता हूँ कि इस विषय में क्या किया जा सकता है। समाज का यह कलंक दूर करना ही होगा, परन्तु धैर्य के साथ।"

उसी समय किसी के बुलाने आने पर वे चले गये।

प्रकाश बाबू आये और संन्यासी से सब कुछ सुनकर वे भी मर्माहत हुए। कितने शर्म की बात है! निमंत्रण देकर बुलाया क्यों? बहुत बड़ी भूल हुई है। उच्च प्रतिष्ठित विद्वान् व्यक्तियों को इस तरह का व्यवहार सहन करना उचित नहीं है। यह एक बड़ा ही गम्भीर मामला है। इसी प्रकार तो हिन्दू समाज दुर्बल हो गया है। शत्रुओं की सृष्टि कर रहा है। स्वामीजी इसके अत्यन्त विरोधी थे। देखिये, इसका कोई उपाय अवश्य करना होगा। नहीं तो समाज ऐसे एक सुशिक्षित सुसंस्कार युक्त व्यक्ति को खो बैठेगा। और यह बड़े ही दु:ख की बात होगी। निमंत्रित व्यक्ति का इस प्रकार अपमान करना सज्जन व्यक्ति का कार्य नहीं है। आप यह बात अपने मित्रों को समझाकर अपने उस नेता को समझाइये और उसके पास जाकर इस भूल के लिये क्षमा माँगने को कहिये। और यदि वह राजी नहीं होता, तो उसका सामाजिक बहिष्कार कीजिये। इसी तरह का सुदृढ़ कदम उठाने की जरूरत है। उसकी चाहे जो भी सामाजिक अवस्था हो, पर ऐसी भूल क्षमा करने के योग्य नहीं है।"

प्रकाश बाबू अपने चार-पाँच वकील मित्रों को साथ ले आये। उन लोगों ने भी इस मामले को विशेष महत्त्व दिया। वे लोग सीधे उस नेता के घर चले गये और उसे समझाया। वे अपनी भूल समझ कर संन्यासी के पास आये और स्वीकार किया कि उनका वह आचरण अनुचित हुआ है और क्षमा माँगने को राजी हुए।

संन्यासी ने कहा – " 'भूल हो गयी है भाई, क्षमा करो' – इतना कहने से ही हो जायेगा। और यदि सम्भव हो, तो उन्हें घर ले जाकर चाय-नाश्ता कराइये।"

अन्य सभी वकील बन्धु भी इस पर सहमत हुए और सभी लोग उन निम्न जातीय वकील से बातें करने उनके घर गये। बाद में उन्हें सम्मानपूर्वक उन नेता महाशय के घर पर चाय-पान कराया गया और उसके बाद सबने मिलकर एक बार फिर बार-समिति के ग्रन्थालय में चाय-पान कराया। वे परम सन्तुष्ट होकर संन्यासी के पास आये। बोले – "अब मेरे मन में कुछ भी नहीं है। महाराज, आप यदि न रहते, तो मैं निश्चित रूप से ईसाई बन जाता। आपसे बातें करने के बाद मैंने घर लौटकर गहराई से विचार किया। देखा कि आप ठीक ही कह रहे हैं – समाज के दोष या भूल सुधारने के लिये उसके भीतर रहकर ही प्रयास करना होगा; उसके बाहर जाकर यह नहीं किया जा सकता – यह परम सत्य है।"

संन्यासी – "आपने यह ठीक-ठीक समझा है, यह

देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। आप स्वामीजी की पुस्तकों को और भी अच्छी तरह पढ़िये। वे ही आपको सत्य-मार्ग दिखायेंगे।'' इस घटना की, विशेषकर उस अन्तिम पर्व में, समाज पर प्रतिक्रिया अच्छी ही हुई थी।

फरीदपुर की एक रोचक घटना

फरीदपुर में रहते समय एक मजेदार घटना हुई। उस समय संन्यासी वहीं था। हर पखवारे लगनेवाले एक बाजार में हैजा (कालरा) फैला। आश्रम की ओर से वहाँ राहत-कार्य किया गया। इसमें कॉलेज के कुछ छात्रों की भी सहायता ली गयी थी। यह राहत-कार्य २-३ दिन चला था। बाजार उठने के बाद देखा कि एक प्रौढ़ा मुसलमान स्त्री, जो तब भी बड़ी दुर्बल थी, गाँव के लोग छोड़कर चले गये थे। उसका गाँव काफी दूर था। जाने में नाव से पूरा दिन भर लगता था। वर्षा काल तथा बाढ़ आयी हुई होने के कारण सभी लोग नाव में ही आवागमन करते थे। अत: अन्य कोई उपाय न देख फिर बाजार लगने तक उसे रखने की आवश्यकता हुई।

आश्रम के पास ही एक कृषक मुसलमान गृहस्थ के घर में उसे रखने की व्यवस्था की गयी। तय हुआ कि उसके भोजन आदि का खर्च आश्रम की ओर से दिया जायेगा।

वह बाजार दो सप्ताह के अन्तराल पर लगता था।

एक दिन खाद्य-विभाग के इंस्पेक्टर आकर हाजिर हुए। उस समय आश्रम में और कोई नहीं था, केवल संन्यासी ही उपस्थित था। वे आकर हँसते हुए बोले – ''स्वामीजी, आप लोगों के विरुद्ध बड़ा गम्भीर आरोप आया है – आप लोगों ने इस मुसलमान महिला की अनिच्छा के बावजूद उस मुसलमान के साथ इसका निकाह करने की योजना बनायी है – ऐसा उसने थाने में जाकर रिपोर्ट लिखवाया है। हिन्दू होकर भी एक मुसलमान हैजे के रोगी पर आप लोगों का इतना खर्च करना, इतनी देखभाल करना और उसे ले जाकर उस घर में रखना, (उसके मतानुसार) उसके बेवा (विधवा) होने के कारण यह सब उसके साथ निकाह करने के उद्देश्य से किया गया है। अब बोलिये, आपको क्या कहना है?''

संन्यासी ने हँसते हुए कहा – ''आप लोगों ने जो निश्चित किया है, पहले वही बताइये।''

वे बोले – ''बेंत दिखाकर कह दिया है – 'हरामजादी, यदि फिर आयी, तो मार-मारकर चमड़ी उधेड़ दूँगा। ब्राह्मण-कायस्थ लड़कों ने तेरा टट्टी-पेशाब साफ किया, अपनी जान जोखम में डालकर तेरी जान बचायी और अब भी तेरे लिये सारी व्यवस्था कर रहे हैं; और तू वह सब भूलकर उन्हीं के विरुद्ध नालिश करने आयी है? मैं उन्हें तेरी सारी सहायता बन्द करने को बोल देता हूँ। तू जहाँ खुशी, जाकर मर।' आदि आदि। इसके बाद वह हाथ-पाँव पकड़ने लगी और चुपचाप चली गयी।'' कहकर वे हँसने लगे।

संन्यासी – ''देखिये, दोष उसका नहीं है। उसे मालूम नहीं है कि बिना स्वार्थ भी कोई उसकी वैसी सेवा कर सकता है। बिना स्वार्थ के कोई एक बात तक नहीं करता, एक तिनका तक नहीं हिलाता, बीमार होने पर भी एक गिलास पानी तक शायद ही कोई देता है। फिर, वह मुसलमान है और उसकी सेवा करनेवाले सब उसकी दृष्टि में काफिर हिन्दू लोग हैं। इस धर्म को तो उसने देखा नहीं। उसने सोचा कि इतने दिन जो बैठाकर खिला रहे हैं, क्या बिना किसी स्वार्थ के ये लोग इतना जुटा रहे हैं। इसीलिये उसने सोचा कि निकाह आदि करने की चेष्टा होगी, इसीलिये ये लोग ऐसी सेवा कर रहे हैं। बेचारी! उसे कभी कहीं ऐसी मानवता देखने को ही नहीं मिली थी। जो लोग मानवता की भावना लेकर चलते हैं, उसकी दृष्टि से उन्हें समझ पाना कठिन और इस कारण असम्भव भी है।

अगले बाजार के दिन उसको उसके गाँव के लोगों के हाथ में सौंप दिया गया।

❖ (क्रमशः) ❖

कामनाओं का त्याग करो

हाथी को मुक्त छोड़ दिया जाए तो वह चारों ओर पेड़-पौधों को तोड़ते-मरोड़ते हुए चलने लगता है, पर जब महावत उसके सिर पर अंकुश का वार करता है तब वह शान्त हो जाता है। इसी प्रकार, मन को बे-लगाम छोड़ देने पर वह तरह-तरह की फालतू चीजों का विचार करने लगता है, पर विवेकरूपी अंकुश का वार करते ही वह शान्त, स्थिर हो जाता है।

दही को मथकर मक्खन निकाल लेने के बाद उसे फिर उसी हण्डी में छाछ के साथ रखने से मक्खन के खराब हो जाने का भय रहता है। उसे अलग बर्तन में स्वच्छ जल में रखना चाहिए। इसी प्रकार कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर लेने के बाद भी व्यक्ति यदि संसार में विषयों से घिरा रहते हुए विषयासक्त संसारियों की संगति करता रहे तो उस पर उसका परिणाम हो सकता है, परन्तु संसार को त्याग देने पर वह शुद्ध रह सकता है। – *श्रीरामकृष्ण*

विष नहिं तजहिं भुजंग

स्वामी सत्यरूपानन्द

प्राचीन समय की बात है, नगर के कोलाहल से दूर, किसी गहन वन में एक ऋषि रहा करते थे। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये ऋषि ने कठोर व्रत का अनुष्ठान किया था। उस गहन वन में पर्वत उपत्यकाओं के बीच एक छोटी-सी नदी बहती थी। अनुपम था उस नदी का सौन्दर्य ! शुभ्र रजत-धवल जल पर्वत और घाटियों को गुंजारित करनेवाली उसकी मोहक कलकल ध्वनि ! सहज ही मनुष्य का मन जड़ प्रकृति से ऊपर उठकर चैतन्य के चिन्तन में लीन हो जाता था। तभी तो उस तपस्वी ऋषि ने अपनी साधना के लिये यह स्थान चुना था।

ऋषि उसी नदी के तीर पर पर्वत की एक गुफा में रहते थे। वन के सहज उपलब्ध फल-मूल और उस नदी का मीठा जल यही उनका आहार था। वे अपना अधिकांश समय आत्मचिन्तन और वेदाध्ययन में व्यतीत किया करते थे। संसार से विरत मुनि के मन में हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या आदि के लिये कोई स्थान न था। उनका हृदय सभी प्राणियों के लिये करुणा से परिपूर्ण था।

वह गहन वन भयानक हिंसक पशुओं से भरा था। ऋषि के आश्रम के समीप कभी वनराज आकर भयंकर गर्जना कर जाता – करुणामय ऋषि के प्रति मानो यही उसका अभिनन्दन होता। कभी कोई मदमस्त गज उधर आ निकलता, किन्तु शांतहृदय ऋषि के दर्शन कर उसका चंचल मन शान्त हो जाता। वह अपनी सूँड़ ऊपर उठाकर मानो ऋषि का अभिनन्दन करता और वहाँ से चला जाता। मृग, हरिण आदि तो मानो आश्रम में ही रहते थे। ये वन्य पशु ऋषि से इतने हिलमिल गये थे कि ऋषि उन्हें अपने हाथों से ताजी पत्तियाँ और हरी-हरी घास खिलाया करते। ऋषि के पावन संसर्ग में आकर वे वन्य प्राणी भी शान्ति और सुख का अनुभव करते।

एक दिन भटकता-भटकता कहीं से एक ग्रामीण कुत्ता उधर आ निकला। वन की भयानकता एवं वन्य पशुओं की डरावनी आवाज से वह थर-थर काँप रहा था। ऋषि की दृष्टि उस निरीह प्राणी पर पड़ी। उनके हृदय की करुणा जाग उठी। उन्होंने स्नेह से उस कुत्ते को पुचकारा और थपथपाया। कुत्ता भी ऋषि का स्नेह पाकर निर्भय हो गया। अब वह भी ऋषि के आश्रम में रहने लगा। जो कुछ ऋषि से उसे प्राप्त हो जाता उसी पर अपना निर्वाह करता। उसके दिन आनन्द से कट रहे थे।

एक दिन हठात् वह हाँफता-हाँफता ऋषि के चरणों के समीप आकर खड़ा हो गया। ऋषि ने उसे आश्वस्त कर प्रश्न भरी दृष्टि से उसकी ओर देखा।

कुत्ते ने निवेदन किया, "प्रभु ! आश्रम के समीप ही एक भयानक चीता आया है। वह मुझे मारकर खा जाना चाहता है। मैं उसी के भय से व्याकुल हूँ।"

ऋषि ने उसे अभय दान दिया और कहा, "तुम चिन्ता न करो, मेरे रहते तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा।"

कुत्ते ने निवेदन किया, "भगवन् ! दिन-रात आप कहाँ तक मेरी रक्षा की चिन्ता में व्यस्त रहेंगे। इससे आपके नित्यकर्म में भी व्यवधान होने की संभावना है। फिर, जब आप भजन-पूजन में व्यस्त रहते हैं यदि उस समय मुझ पर विपत्ति आई तब मेरा त्राण कौन करेगा? प्रभु, आप दया करके मुझे भी उस चीते की भाँति शक्ति दे दीजिये।"

करुणापूत ऋषि ने कुत्ते की इच्छा पूर्ण कर दी। मंत्राभिषिक्त जल के छींटे पड़ते ही वह क्षुद्र श्वान एक भयानक चीते में परिवर्तित हो गया। विस्फारित नेत्रों से उसने एक बार अपनी नई देह को भरपूर देखा। उसके मन का रहासहा भय भी दूर हो गया। उसने अत्यन्त नम्रता पूर्वक ऋषि को प्रणाम किया। श्वान की प्रसन्नता और निर्भयता देखकर ऋषि का मन भी आनन्द से भर गया।

उस वन्य चीते की ओर देखकर इस नये चीते ने रोषपूर्ण गर्जना की। अपने से भी अधिक सशक्त और भयानक चीते को देखकर वह जंगली चीता भयभीत होकर वहाँ से भाग गया।

ऋषि-निर्मित यह चीता आश्रम के पास की ही एक गुफा में रहता था और निर्भय हो कर उस वनस्थली में विचरण करता था। निरीह खगादि ही उसके आहार थे। इसी तरह आनन्दपूर्वक उसके दिन बीत रहे थे।

एक दिन अचानक ही वह हाँफता हुआ ऋषि के आश्रम में आया। थकावट के कारण उसके मुँह से झाग निकल रही थी। भय से वह काँप रहा था।

ऋषि ने उसकी दुर्दशा देख कर उससे पूछा, "क्यों, अब किस भय से तुम पीड़ित हो?"

चीते ने कहा, "भगवन्, चीते का शरीर पाने के पश्चात् आपकी कृपा से अब तक तो मैं निर्भीक होकर आनन्दपूर्वक जीवन यापन करता रहा। किन्तु आज मेरी गुफा की ओर एक भयानक व्याघ्र आ पहुँचा। उसने भीषण गर्जना की। उसके वज्रघोष से मेरा हृदय दहल उठा। उसने मुझे देख लिया और अपने पैने दाँतों को खोलकर वह मेरी ओर

झपटा। बड़ी कठिनाई से प्राण बचाकर किसी भाँति मैं आपकी शरण में आ पाया हूँ। मेरी रक्षा कीजिये, भगवन् ! मैं भय से व्याकुल हो रहा हूँ।''

ऋषि ने पुन: उस चीते को अभय दान दिया।

किन्तु चीते ने निवेदन किया, ''प्रभु ! आपकी कृपा से मेरा भय जाता रहा। किन्तु भगवन् ! आखेट के लिये मुझे वन में दूर-दूर तक जाना पड़ता है, इस भयानक वन में न जाने कितने व्याघ्र होंगे। आखेट के समय यदि किसी बाघ से मेरा सामना हो गया, तो मेरी मृत्यु निश्चित है। उस समय आप मेरी रक्षा कैसे कर सकेंगे? नाथ, दया करके मुझे भी एक शक्तिशाली बाघ बना दीजिये, ताकि मैं सदैव के लिये व्याघ्र के भय से मुक्त हो जाऊँ।''

पुन: एक बार मंत्र-युक्त जल उस चीते के शरीर पर पड़ा। क्षण मात्र में ही वह चीता एक भयंकर बाघ में परिणित हो गया। उसने एक अँगड़ाई ली और वज्र घोष से वन को प्रकम्पित करने लगा। ऋषि ने तृप्ति पूर्वक उसकी ओर देखा। क्षण मात्र में ही एक छलाँग लगाकर वह नवव्याघ्र आँखों से ओझल हो गया।

बहुत दिन बीत गये, किन्तु ऋषि को वह व्याघ्र न दिखा। ऋषि ने सोचा, कदाचित व्याघ्र-देह पाकर श्वान पूर्ण भयरहित हो गया और उसके दिन आनन्दपूर्वक कट रहे हैं।

इधर वह कुत्ता व्याघ्र होकर उस सारे वनप्रान्त को आतंकित करने लगा। वह निर्भीक होकर स्वच्छन्दतापूर्वक उस वन में विचरण किया करता। मृगादि से परिपूर्ण वन में उसे भोजन का अभाव था ही नहीं। व्याघ्र होने के कारण भय भी नहीं था।

जब कष्ट और विपत्ति का अभाव और सुख-सुविधाओं का प्राचुर्य रहे, तब भला किसे अपने आश्रयदाता का स्मरण होता है? शक्तिमद में चूर वह व्याघ्र भी अपने आश्रयदाता ऋषि को भूल गया।

पर सुख-सुविधायें जीवन में कमल के पत्ते पर पड़ी पानी की बूँद की भाँति चंचल और क्षणिक होती हैं। इस नव व्याघ्र का भी विपत्ति क्षण समीप आ पहुँचा। एक दिन किसी अन्य वन से एक मद-मस्त हाथी झूमता हुआ इस व्याघ्र के वन में आ पहुँचा। अपने मद में उन्मत्त गजराज ने भीषण चीग्घाड़ से उस वन को कँपा दिया। बड़े-बड़े वृक्षों को उसने तृण के समान उखाड़कर फेंक दिया। उसके आंतक से भयभीत वन्य प्राणी प्राण लेकर भागने लगे। जब व्याघ्र ने यह दृश्य देखा तो उसे बड़ा क्रोध आया। उसने अहंकार पूर्वक गर्जना की और कहा, ''अरे, मुझसे भी अधिक शक्तिशाली कौन प्राणी इस वन में आ गया है, जिसने सारे वन्य प्रदेश में आतंक मचा दिया है? मैं भी तो देखूँ उसका शौर्य।''

वनराज झपटकर उस दिशा की ओर चल पड़ा जिधर से सभी प्राणी भागे चले आ रहे थे। अभी वह कुछ ही दूर जा पाया था कि उसके कानों में हृदय हिला देनेवाली हाथी की चिंघाड़ सुनाई पड़ी। व्याघ्र देह पाने के पश्चात् आज प्रथम बार उसके मन में भय का संचार हुआ। वह ठिठककर खड़ा हो गया। दूसरे ही क्षण उसने देखा कि एक भयंकर पर्वताकार प्राणी रोषपूर्वक उसकी ओर झपटा चला आ रहा है। क्रोध में भरे भयंकर गजराज को अपनी ओर झपटते देख बाघ के तो मानो प्राण ही उड़ गये। किसी प्रकार साहस बटोरकर वह प्राण रक्षार्थ वहाँ से भाग चला।

दु:ख और विपत्ति में प्राणी शत्रु से भी मित्रवत् व्यवहार की आशा रखने लगता है, फिर यदि ऐसे अवसर पर अपने करुणामय आश्रयदाता का स्मरण हो आये तो क्या आश्चर्य ! व्याघ्र भी ऋषि के आश्रम की ओर भाग चला।

भय और क्लान्ति से मृतप्राय हुआ वह ऋषि के चरणों में जाकर गिर पड़ा और अचेत हो गया। ऋषि ने उसे प्रेम पूर्वक थपथपाया। कुछ क्षणों पश्चात् व्याघ्र की चेतना लौटी। उसने अत्यन्त ही विनीत स्वर में ऋषि से क्षमा याचना की और कहा, ''भगवन् ! मुझे क्षमा कर दीजिये ! मैं बड़ा अधम हूँ। व्याघ्र-देह पाने के पश्चात् मैं आपकी सेवा से विमुख होकर दूर चला गया था। वर्षों तक मैंने आपके दर्शन भी नहीं किये। मैं अपनी शक्ति के मद में चूर था। किन्तु आज मेरी आँखें खुल गईं। मुझे यह अनुभव हो गया कि मैं आपकी कृपा के बिना इस वन में निर्भय होकर नहीं रह सकता।''

तभी दूर से मदमत्त गजराज की भीषण चिग्घाड़ सुनाई पड़ी। व्याघ्र की देह हवा के झोकों से काँपते पीपल के पत्ते की भाँति काँप उठी। उसने ऋषि से कहा, ''प्रभु ! यही मेरे भय का कारण है। इस भीषण गज की शक्ति के कारण ही मैं भयभीत हो रहा हूँ। नाथ, दया करके मुझे भी हाथी बना दीजिये, जिससे मैं भी इसकी भाँति विशाल देह और प्रचण्ड शक्ति प्राप्त कर सकूँ।''

नि:स्पृह ऋषि के मुख पर स्मित हास्य की एक हल्की-सी रेखा खिंच गई। दृष्टि उठाकर उन्होंने देखा, पास ही कुछ दूर पर एक विशाल पर्वताकार हाथी खड़ा है। समदर्शी ऋषि के दर्शन मात्र से गजराज का क्रोध शांत हो गया। किन्तु अभी भी उसकी दृष्टि व्याघ्र पर ही जमी थी।

ऋषि ने शरणागत की इच्छापूर्ति का ही निश्चय किया और पुन: व्याघ को मंत्रयुक्त जल से अभिषिक्त किया। क्षण मात्र में ही वह एक विशाल, प्रचण्ड शक्तिसम्पन्न हाथी बन गया। नव-गज ने सूँड उठाकर एक भीषण चिग्घाड़ की। उस घोर शब्द से वनस्थली हिल उठी। वह दूसरा जंगली हाथी भी काँप उठा। अपने से भी विशाल एक अन्य गज को वहाँ उपस्थित देख उसका साहस छूट गया और वह भाग खड़ा हुआ।

यह नव-गज अब निर्भय और स्वतन्त्र होकर उस वन्य प्रान्त में स्वच्छन्द होकर विचरने लगा। अपनी शक्ति और ऋषि-कृपा से वह निश्शंक हो गया था। वह दूर-दूर तक वनों में जाता और भाँति-भाँति के फल-मूल खाकर तृप्त होता। आनन्दातिरेक में वृक्षों को उखाड़ फेंकता और लता-पौधों को रौंद डालता।

कुछ दिन बीतने पर, कहीं दूर के वन से एक विकराल सिंह घूमता हुआ उस वन में आ पहुँचा। नये राज्य की विजय-कामना लेकर वह इस वन में आया था। अपनी शक्ति और अधिकार का प्रदर्शन करने के लिये उसने वज्रवत् एक भीषण गर्जन किया। उसकी उस गर्जना से दसों दिशायें गूँज उठीं।

वह भीषण शब्द इस हाथी के कानों में भी पड़ा। अपने वन-प्रांत में ऐसा भीषण शब्द उसने कभी नहीं सुना था। उसे कुछ कुतूहल पूर्ण आश्चर्य हुआ। घनी झाड़ियों से बाहर आकर वह आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से उस ओर देखने लगा जिधर से वह भीषण शब्द आया था। हठात् उसकी दृष्टि थोड़ी ही दूर पर खड़े मृगराज पर पड़ी। मृगेन्द्र ने भी दृष्टि उठाकर हाथी की ओर देखा। अपने सामने एक हाथी को निर्भीक खड़ा देखकर उसका स्वाभिमान आहत हो उठा। यह तो मानो उसके अधिकार, उसकी सत्ता और उसकी शक्ति को एक खुली चुनौती थी ! एक हाथी मृगेन्द्र के सम्मुख निर्भीक खड़ा रहे ! असम्भव ! दूसरे ही क्षण दसों दिशाओं को प्रकम्पित करनेवाली वही भीषण गर्जना पुनः हुई। इस बार दिशाओं के साथ-साथ गजराज का हृदय भी हिल उठा। भावी विपत्ति और मृत्यु की आंशका उसे स्पष्ट हो गई।

तभी झपट पड़ा मृगेन्द्र अपनी अवहेलना का प्रतिशोध लेने। प्राणों को संकट में जान हाथी की विलुप्त-सी चेतना लौटी। किसी तरह वह प्राण बचाकर भाग चला।

पर भाग कर जाये कहाँ? मृगेन्द्र में तो मानो विद्युतगति और वायु की शक्ति थी। कुछ क्षणों के लिये गजराज ने स्वयं को असहाय और निरीह अनुभव किया। तभी उसकी बुद्धि में अपने शरणदाता ऋषि की स्मृति बिजली-सी कौंध गई। वह करुणासागर ऋषि के आश्रम की ओर भाग चला।

ऋषि उसी समय पास की नदी में स्नान करके आश्रम की ओर लौट रहे थे। उन्हें दूर कोई विशाल वस्तु हिलती-सी प्रतीत हुई। कुछ ही क्षणों में उन्होंने देखा कि एक विशालकाय हाथी उनके आश्रम की ओर भागा चला आ रहा है। उसके पीछे ही एक भयंकर सिंह छलांग लगाते हुए आ रहा था। क्रोध के कारण सिंह की आखों से मानो अग्निवर्षा हो रही थी।

यह दृश्य देखकर ऋषि को गजराज की दयनीयता भाँपते देर न लगी। अपने तपोबल से उन्होंने मृगेन्द्र को दूर ही रोक दिया। तब तक हाथी ऋषि के चरणों के समीप आ चुका था। वहाँ ठहर कर उसने पीछे की ओर मुड़ कर देखा, उसका शत्रु उससे दूर चुपचाप खड़ा है। वह आगे नहीं बढ़ पा रहा है। सूँड उठाकर गज ने कृतज्ञतापूर्वक ऋषि का अभिवादन किया। ऋषि ने स्मित हास्य से उसका प्रत्युत्तर दिया। तपस्वी की करुणामयी मुद्रा देखकर गज को ढाढ़स बँधा। उसने अनुभव किया कि ऋषि ने उसकी कृतज्ञता के लिये उसे क्षमा कर दिया है।

केसरी से भय और पराजय तथा अपनी दुर्बलता के कारण गजराज को बड़ी मानसिक पीड़ा हो रही थी। आत्मग्लानि से मानो वह गला जा रहा था। चिता तो मृत्यु के पश्चात् प्राणी के शरीर को जलाती है, किन्तु दुर्बलता के कारण हुये अपमान की ज्वाला प्राणी को तिल-तिल कर जीवित ही जलाया करती है। इस दुःख और दाह से त्राण पाने का एक ही उपाय गजराज को सूझ पड़ा। उसने मन ही मन सोचा, ''यदि मैं भी एक शक्तिशाली सिंह होता, तो आज मेरी ऐसी दुर्गति न होती।''

इस विचार के आते ही व्याकुलता से उसका हृदय फटने लगा। पर्वतीय निर्झर की भाँति उसकी आँखों से अश्रुधारा बह चली। उसने अत्यन्त कातर स्वर में ऋषि से प्रार्थना की, ''भगवन ! आपने कृपापूर्वक मुझे एक क्षुद्र श्वान से विशाल हाथी बना दिया। मैं इतना विशाल शरीर और प्रचण्ड सामर्थ्य पाकर प्रसन्न था। किन्तु प्रभु ! आज केसरी ने मेरी जो दुर्गति की है, उससे मैं बुहत अधिक संतप्त हो उठा हूँ। दुःख और ग्लानि से मेरा हृदय फटा जा रहा है। करुणा निधान ! मेरे इस दुःख से आप ही मुझे उबार सकते हैं, और उसका एक ही मार्ग मुझे दिख पड़ता है – यदि आप कृपापूर्वक मुझे भी एक बलशाली सिंह बना दें, तो मैं इस दुःख से छुटकारा पा सकता हूँ।

गज की हृदयव्यथा और कातरता देखकर ऋषि का हृदय द्रवित हो उठा। पुनः उनके मुख पर स्मित हास्य की रेखा उभर उठी। अंजलि में उन्होंने जल लिया, उसे अभिमन्त्रित किया और गजराज की विशाल देह पर छिड़क दिया। क्षणमात्र में वह पर्वताकार गज वहाँ से अदृश्य हो गया और उसके स्थान पर भीषण गर्जन करता हुआ एक सिंह खड़ा था।

सिंह-शरीर पाते ही उस श्वान के मन में प्रतिहिंसा जाग उठी। वह उस जंगली सिंह से प्रतिशोध लेने मुड़ा। इस विकराल नव-केसरी को अपनी ओर क्रोधपूर्वक झपटते देखकर जंगल का सिंह भाग चला। नव-केसरी ने कुछ दूर तक उसका पीछा किया, किन्तु जंगली सिंह भयभीत होकर भागता ही गया। इससे नये सिंह का दम्भ जाग उठा। अपनी वीरता और विजय पर उसे अभिमान हुआ। उस जंगली सिंह का और पीछा न कर वह वापस लौट आया।

दिन-पर-दिन बीतते गये। इस नये सिंह के पराक्रम और आतंक से सभी प्राणी त्रस्त थे। बड़े-बड़े गजराज इस शक्तिशाली मृगेन्द्र को देखकर भय से काँप उठते थे। अब यह नव केसरी पूर्ण निर्भीक होकर इच्छानुसार उस विशाल वन में स्वतंत्रतापूर्वक घूमा करता। निरीह वन्य प्राणियों का रक्त और मांस खा-खा कर वह बहुत पुष्ट हो गया था।

तभी एक दिन उसके जीवन में भयंकर तूफान आया। सभी प्राणियों को भयभीत और त्रस्त करनेवाला एक भयानक शरभ* कहीं से उस वन में आ पहुँचा। वह साक्षात् यम की भाँति भयंकर था। उसकी आँखें ऊपर की ओर थीं। उसने मानो क्रूरता टपक रही थी। तभी वह सिंह भी उधर आ निकला। सिंह पर दृष्टि पड़ते ही क्रूर शरभ ने भीषण चीत्कार किया। वह सिंह का रक्तपान करने के लिये लालायित हो उठा। क्रोध तथा क्षुधा से पीड़ित वह शरभ इस सिंह पर टूट पड़ा। इस भयंकर प्राणी के आकस्मिक आक्रमण से सिंह अत्यन्त भयभीत हो उठा। किन्तु प्राण रक्षा के लिये साहस बटोरकर उसने शरभ का सामना करने का प्रयत्न किया। किन्तु शक्तिशाली शरभ के भीषण आघात से वह सिंह क्षत-विक्षत हो उठा।

प्राणरक्षा का और कोई उपाय न देख सिंह ऋषि के आश्रम की ओर भाग चला। उन्हीं ने तो उसे हर बार विपत्तियों से बचाया था। किसी तरह गिरता-पड़ता वह ऋषि के आश्रम में जा पहुँचा। घायल और रक्तरंजित सिंह को देखकर करुणामूर्ति ऋषि को बड़ी दया आई। उन्होंने घायल सिंह को शान्त किया। उसके घावों को सहलाया। उसी समय विचित्र एवं भीषण गर्जना करता हुआ शरभ भी वहाँ आ पहुँचा। उसके घोर रव से सिंह काँपने लगा। ऋषि के तेज के कारण शरभ दूर ही खड़ा रहा।

भयभीत सिंह ने अपने आश्रयदाता से प्रार्थना की, "भगवन्! आज मुझे ज्ञात हो गया कि वन में सबसे अधिक शक्तिशाली प्राणी शरभ ही होता है। उसे किसी भी प्राणी से भय नहीं होता। कोई भी प्राणी उसका बाल-बाँका नहीं कर सकता। यदि मैं भी आज शरभ होता, तो मुझ पर यह विपत्ति कदापि न आती। दयानिधे! इस बार कृपा करके मुझे शरभ बना दीजिये। शरभ होकर मैं सदैव के लिये भय और दु:ख से मुक्त हो जाऊँगा। फिर कभी आप को कष्ट नहीं दूँगा।"

ऋषि करुणासागर तो थे ही। यह जानते हुये भी कि प्राणी की शक्तिलिप्सा बड़वानल की भाँति कभी तृप्त नहीं होती, उन्होंने उस सिंह पर दया की और अपने योगबल से उसे एक भीषण शक्तिशाली शरभ बना दिया। अपने से अधिक बलवान एक दूसरे शरभ को देखकर वह जंगली शरभ भाग गया। जंगली शरभ को भयभीत होकर भागते देख नये शरभ के गर्व की सीमा न रही। उसका अहंकार जाग उठा। उसके दम्भ ने मंत्रणा दी – "जब एक क्रूर शरभ तुम्हारे भय से भाग सकता है, तब भला अन्य किस प्राणी की सामर्थ्य है, जो तुम्हारी शक्ति के सामने टिक सके। बड़े-बड़े विकराल सिंह भी अब तुम्हारी गर्जना मात्र से भयभीत हो उठेंगे। अब तो तुम वनराज के भी राजा हो। शक्ति के सम्राट हो! अजेय हो।"

शक्ति के मद में चूर इस नव-शरभ ने दम्भपूर्वक दसों दिशाओं को हिला देनेवाली भीषण गर्जना की। दम्भ वह घनघोर घटा है, जो प्राणी के ज्ञान-सूर्य को ढँककर उसके जीवन को अंधकार पूर्ण कर देती है। शक्ति का अभिमान वह मद्य है जिससे मत्त प्राणी उन्मत्त होकर स्वयं अपना ही घात कर लेता है। पाशविक सामर्थ्य की लालसा प्राणी को अंधा कर पथभ्रष्ट कर देती है।

नया शरभ भी माया के इस छलने वाले नियम का अपवाद न हो सका। शक्तिमद में चूर होकर वह वन्य प्राणियों का भीषण संहार करने लगा। अपनी क्षुधातृप्ति के अतिरिक्त केवल मनोरंजनार्थ ही वह निरीह प्राणियों का वध कर दिया करता था। ईर्ष्या अभिमान की दुहिता और सन्देह की जननी है। शंका मनोभूमि में बोया वह विष बीज है, जिसके अंकुर को यदि प्रारम्भ में ही यदि नष्ट न कर दिया जाय, तो उससे वर्धित विषवृक्ष उस प्राणी का सर्वनाश कर देता है, जिसकी मनोभूमि में उसका वपन हुआ था।

एक दिन वह दुष्ट शरभ एक पेड़ की घनी छाया में विश्राम कर रहा था। तभी हठात् उसे अपने विगत जीवन का स्मरण हो आया। उसे अपनी श्वान योनि की दुर्दशा और निरीहता का स्मरण कर बड़ी घृणा हुई। फिर क्रमश: श्रेष्ठ योनियों में आकर अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने की घटनाओं का स्मरण कर उसे बड़ा आनन्द हुआ। वह सोचने लगा – अब मैं सभी वन्य प्राणियों में श्रेष्ठ और अजेय हूँ! मैं निर्भय और निश्शंक हूँ! मुझे अब किसी से कोई भय नहीं!

अभी वह कल्पना के इस लोक में विचर ही रहा था कि उसके क्रूर अंत:करण के किसी कोने से शंका की एक ध्वनि आई – "तुम अकेले शरभ इस वन में हो इसीलिये निर्भय और स्वतन्त्र हो। यदि कोई तुमसे भी शक्तिशाली शरभ आ जाय तब?"

इस विचार के आते शरभ की आँखों के सामने विगत दिनों की सारी घटना चलचित्र की भाँति घूम गयी। जब वह स्वयं सिंह था और शरभ ने उस पर प्राणघातक आक्रमण किया था, तब उसकी प्रार्थना पर ऋषि ने उसे भी सिंह से शरभ बना दिया था – उस वन्य शरभ से कहीं अधिक शक्तिशाली और प्रचण्ड।

दुष्ट शरभ के मन में शंका का विषवृक्ष पल्लवित होने

* सिंह से भी अधिक बलवान एक कल्पित अष्टपाद पशु।

लगा। उसे लगने लगा, कहीं ऐसा न हो कि कोई अन्य प्राणी उस ऋषि के पास पहुँच जाय और मेरी शिकायत कर दे या ऋषि से स्वयं को भी शरभ बना देने की प्रार्थना करे। यदि कहीं ऋषि का हृदय द्रवित हो गया तब? ऋषि ने यदि मुझसे भी अधिक शक्तिशाली दूसरा शरभ बना दिया, तब क्या होगा? क्या! क्या!! क्या मुझे पुनः भयभीत होना पड़ेगा? क्या मेरी यह सत्ता, यह स्वतंत्रता, यह बल, यह वैभव, सभी कुछ छिन जायेगा?

उसके क्रूर और मदांध अन्तःकरण ने कहा – हाँ, यही होगा! दूसरे शरभ के उत्पन्न होते ही तुम्हारी सत्ता छिन जायेगी! तुम्हारा अधिकार समाप्त हो जायेगा।

मन के एक द्वार से जब कुशंका का प्रवेश होता है, तब विवेक दूसरे द्वार से निकल जाता है। विवेक के पलायन करते ही मोह व्याप्त हो जाता है। मोह की व्याप्ति ही तो सारी व्याकुलताओं और दुःखों का मूल है।

शरभ की भी यही गति हुई। कुशंकाओं के कारण उसका हृदय व्याकुल हो उठा। बार-बार उसके मन से यह पुकार आने लगी कि यदि ऋषि ने दूसरा शरभ बना दिया, तब क्या होगा! उस पशु की पैशाचिकता जागी। उसने सोचा – क्यों न उस शक्ति को ही समाप्त कर दूँ, जिससे दूसरा शरभ उत्पन्न होने की सम्भावना है। उस ऋषि का वध कर देने पर मैं सदैव के लिये इस भय से मुक्त हो सकता हूँ।

ऋषि अपने आश्रम के समीप ही एक शिलाखण्ड पर ध्यान मग्न बैठे थे। तभी शरभ वहाँ आ पहुँचा। उस नीच ने सोचा – यही सुअवसर है जब मैं ऋषि के रक्त का पान कर इस दुःख और भय से सदैव के लिये मुक्त हो सकता हूँ। इस बाधा को सदा के लिये दूर कर सकता हूँ।

ध्यानस्थ ऋषि ने योगबल से शरभ की कुत्सित इच्छा को जान लिया। नेत्र खोलकर उन्होंने एक बार क्रूर शरभ की ओर देखा और उनके मुँह से शब्द निकल पड़े – "जा, अपने दुष्कर्म के कारण तू पुनः श्वान हो जा।" त्योंहि वह शरभ पुनः श्वान हो गया।

इस कथा से हमें यह सीख मिलती है कि क्षुद्र या दुष्ट व्यक्ति को यदि महत् अधिकार दे दिये जायँ अथवा किसी कुपात्र को बड़ा पद दे दिया जाय तो वह उसका दुरुपयोग ही करेगा। उससे समाज को हानि ही होगी, लाभ नहीं।

अतः जीवन के किसी भी क्षेत्र में हम क्यों न हों, यदि प्रभु-कृपा से हमें यह सुअवसर प्राप्त हुआ हो कि हम किसी व्यक्ति को कोई पद या अधिकार दे सकें तो हमें इस कथा का स्मरण कर उसकी पात्रता का अवश्य ही विचार कर लेना चाहिये।

सपने का सच

देवेन्द्र कुमार मिश्रा

सपना तब होता है सपना
जब खुलती है नींद,
चलते स्वप्न बिल्कुल
सच्चाई होते हैं,
जीवन की तरह ।।
दुख है तो है
सुख है तो है
सपना चल रहा है,
जो घट रहा है
वो सही है।
अब ये तो नींद खुलने
पर निर्भर है
कि सब सपना लगे ।।
नींद आ गई है
सपने सत्य हैं,
स्वप्न में ही जीवन है, मरण है
नींद जो लम्बी है
लगातार है,
कभी खुलती भी है
तो आँख बन्द कर लेता हूँ
इस आस से कि शायद
कोई अच्छा सुख मिल जाय
नींद की आदत पड़ गई है।
न टूटे तो बेहतर
और खुल गई जिस दिन आँख
उस दिन सब स्वप्न
चाहे जीवन ही क्यों न हो ।।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१४०. सीलवान की सदा समदृष्टि

एक बार गुलवनी महाराज से सलाह लेने उनके पास एक व्यक्ति आया। उसने महाराज को बताया कि उसके परिवार में माता, पत्नी, पुत्र – तीन सदस्य हैं, परन्तु उनके आपसी कलह से वह तनावग्रस्त रहता है। वह तय नहीं कर पाता कि किसे अधिक महत्त्व दे और किसके साथ कैसा व्यवहार किया जाय कि घर में शान्ति बनी रहे।''

महाराज ने कहा, ''पहले मैं एक कहानी सुनाना चाहता हूँ, उसे सुनो।'' उन्होंने कहानी बताना शुरू किया – एक धनिक सेठ की मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसकी पत्नी तथा बेटे ने ऐशो-आराम की जिन्दगी बिताते हुये धीरे-धीरे घर का सारा धन खर्च कर डाला। जब प्रतिदिन का खर्च चलाने के लिये भी उनके पास कुछ नहीं बचा, तो एक दिन माँ ने बेटे को पूजागृह से भगवान का सिंहासन, घोड़ा और कुत्ते की प्रतिमा लाकर उन्हें बेचकर पैसे ले आने को कहा।

लड़का उन्हें लेकर एक सुनार के पास गया। सुनार ने लड़के को भोलाभाला जानकर उनकी कीमत क्रमश: १५, १२ तथा १० रुपये बताई। सुनार जब इससे अधिक देने को राजी न हुआ, तो लड़का दूसरे सुनार के पास गया और उसने पहले सुनार द्वारा बताई कीमत से ज्यादा देने की माँग की। इस सुनार ने उसे बताया कि ये प्रतिमाएँ सोने की हैं, इसलिये इनकी कीमत बहुत ज्यादा है। उनकी कीमत भी सुन्दरता के आधार पर नहीं आँकी जायेगी, बल्कि उन्हें तौलने पर जिसका वजन अधिक आयेगा, उसकी अधिक कीमत दी जायेगी। तीनों में घोड़े का आकार बड़ा होने के कारण अन्य दोनों की अपेक्षा उसकी कीमत अधिक होगी।''

महाराज ने आगे कहा, ''इस कहानी को बताने का मेरा उद्देश्य यह था कि तुम्हारी माँ, पत्नी और बेटे में – माताजी भले ही सबसे बड़ी है, मगर तीनों के अन्तस्तल में एक ही शुद्ध चैतन्य आत्मा का वास है। जिस प्रकार प्रतिमाओं में देवता श्रेष्ठ होते हुये भी आकार में वे घोड़े से छोटे होने के कारण सुनार उनकी कीमत कम देगा, उसी प्रकार कलह होने पर तीनों को समान महत्व देते हुये घटित प्रसंग में कौन सही है, इसका विचार कर तुम्हें उनके साथ वैसा व्यवहार करना चाहिये। सबके साथ समान तथा समुचित व्यवहार करने पर कोई तुमसे नाराज न होगा।''

१४१. परहित सरिस कर्म नहीं भाई

एक बार बादशाह नौशेखां-ए-आदिल भेष बदलकर शहर का हालचाल जानने के लिये सड़क से जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक वृद्ध मिला। वे उसके साथ बातें करते हुये चले जा रहे थे। सहसा उन्होंने वृद्ध की उम्र पूछी। उसने शान्त भाव से 'चार वर्ष' बताया। बादशाह को लगा कि बूढ़ा निश्चय ही झूठ बोल रहा है। उन्होंने उससे कहा, ''ताज्जुब है, आप इस उम्र में भी झूठ बोल रहे हैं। आपके सिर के सफेद बाल और शरीर की झुर्रियाँ बता रही हैं कि आपकी उम्र अस्सी से कम नहीं है और आप हैं कि अपनी उम्र केवल चार वर्ष बता रहे हैं।'' बूढ़े ने जवाब दिया, ''आपने सच कहा कि मेरी उम्र अस्सी वर्ष है, मगर उम्र को देखने का मेरा और आपका नजरिया अलग-अलग है। मैं अपनी उम्र चार वर्ष बता रहा हूँ, उसकी एक खास वजह है। वह यह है कि छिहत्तर वर्ष तक मैं अपने और परिवार की खिदमत में लगा रहा। इस दौरान मैंने परोपकार का कोई काम नहीं किया। लेकिन पिछले चार वर्षों से जब मैं पारिवारिक दायित्व से मुक्त हो गया हूँ, तो मुझे पता चला कि इस संसार में असंख्य लोग कष्टों से संत्रस्त हैं और दु:ख-भरी जिन्दगी बिता रहे हैं। उन्हें दूसरों से मदद की जरूरत है। चार वर्ष पहले मुझे यह अक्ल आई और मैं उनकी खिदमत में लग गया। तो क्या यह मेरा नया जन्म नहीं हुआ और क्या मेरी उम्र चार वर्ष नहीं हुई?'' सुनकर नौशेरवाँ से कुछ जवाब देते न बना।

मनुष्य की आयु बीतती जाती है – बचपन, यौवन और क्रमश: प्रौढ़ावस्था आ जाती है, मगर वह अपने सांसारिक दायित्वों को पूरा करने में लगा रहता है। वृद्धावस्था में यदि उसकी अन्तरात्मा पूरे विश्व के लिये अपने कर्त्तव्य के लिये झकझोरती है और वह सत्कर्म तथा परोपकार में प्रवृत्त होता है, तब मानो उसका एक नया जन्म होता है।

❑❑❑

खेतड़ी निवास – शेष बातें

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

''**२० दिसम्बर १८९७**, सोमवार। स्वामी विवेकानन्द जी आ गए, उनके साथ टहलते हुए (राजाजी की) बातें होती रहीं। इसके बाद वे ऊपर पधारकर बरामदे में विराजे और स्वामीजी महाराज से बातें चलती रहीं। शाम को सात बजे राजासाहब स्वामीजी के साथ सुखमहल गए। आज वहाँ पर स्वामीजी द्वारा 'धर्म' पर बोलने की बात की थी। अत: वहाँ और भी लोग कुर्सियों पर बैठे थे और स्वामीजी ने 'धर्म' विषय पर व्याख्यान दिया।[१] (वाकयात रजि.)

'वेदान्त' पर व्याख्यान

व्याख्यान की व्यवस्था 'सुखमहल' के भीतर हॉल में हुई थी। 'ब्रह्मवादिन्' के लेख से ज्ञात होता है कि इसका विषय 'वेदान्त' था और श्रोताओं में नगर के विशिष्ट लोग तथा कुछ यूरोपियन भी थे। सभापति के आसन पर बैठे राजा ने स्वामीजी का श्रोताओं से परिचय करा दिया और तत्पश्चात् स्वामीजी ने डेढ़ घण्टें तक जो व्याख्यान दिया, उसमें उन्होंने अपनी क्षमता की पराकाष्ठा दिखा दी थी।[२] इस विषय में स्वामीजी की ग्रन्थावली में बताया गया है कि उस समय किसी द्रुत-लेखक उपस्थित न होने के कारण पूरा व्याख्यान लिपिबद्ध नहीं हो सका। उनके दो शिष्यों ने जो नोट लिया था, उसका अनुवाद इस प्रकार है –

''यूनानी और आर्य – ये दो प्राचीन जातियाँ, भिन्न-भिन्न परिवेशों तथा परिस्थितियों में विकसित हुईं। **यूनानी जाति** ने प्रकृति में जो कुछ सुन्दर था, जो कुछ मधुर था, जो कुछ लुभावना था, उन्हीं के बीच स्थित होकर स्फूर्तिप्रद जलवायु में विचरण करते हुए; और **हिन्दू जाति** ने चारों ओर सब प्रकार के महिमामय प्राकृतिक दृश्यों के बीच अवस्थित होकर तथा अधिक शारीरिक परिश्रम के अनुकूल जलवायु न पाकर – दो विभिन्न तथा विशिष्ट प्रकार की सभ्यता के आदर्शों का विकास किया। यूनानी लोग बाह्य प्रकृति की अनन्तता और आर्य लोग आन्तरिक प्रकृति की अनन्तता विषयक खोज में डूब गये। यूनानी लोग बृहत् ब्रह्माण्ड की खोज में जुट गये और आर्य लोग सूक्ष्म ब्रह्माण्ड के तत्त्व की खोज में तल्लीन हुए। दोनों को ही संसार की सभ्यता में अपनी-अपनी निर्दिष्ट भूमिका सम्पन्न करनी थी। ऐसी बात नहीं कि इनमें से एक को दूसरे से कुछ उधार लेना था, परन्तु परस्पर तुलनात्मक अध्ययन से दोनों लाभान्वित होने वाले थे। आर्यलोग स्वभाव से विश्लेषण-प्रिय थे। गणित और व्याकरण के क्षेत्र में आर्यों ने अद्भुत खोज किये और मन के विश्लेषण में वे चरम सीमा को पहुँच गये। पाइथागोरस, सुकरात, प्लेटो तथा मिस्र के नव्य प्लेटोवादियों के विचारों में हमें भारतीय मनीषा की झलक दीख पड़ती है।

इसके बाद स्वामीजी ने यूरोप पर भारतीय विचारों के प्रभाव की विस्तृत समीक्षा करते हुए दिखाया कि विभिन्न युगों में स्पेन, जर्मनी एवं अन्य यूरोपीय देशों पर इन विचारों की कैसी गहरी छाप पड़ी थी। भारतीय शाहजादे दारा शिकोह ने उपनिषदों का फ़ारसी भाषा में अनुवाद किया। उसी का एक लेटिन अनुवाद देखकर शॉपेनहॉवर नामक जर्मन दार्शनिक उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। उसके दर्शन में उपनिषदों का काफी प्रभाव है। फिर काण्ट के दर्शन-विषयक ग्रन्थों में भी औपनिषदिक भावों के चिह्न दीख पड़ते हैं। यूरोप के विद्वान् लोग तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की अभिरुचि के कारण ही प्राय: संस्कृत के अध्ययन की ओर आकृष्ट होते हैं। वैसे प्राध्यापक डॉयसन जैसे व्यक्ति भी हैं, जो केवल दार्शनिक ज्ञान के लिये ही इनका अध्ययन करते हैं। स्वामीजी ने आशा प्रकट की कि भविष्य में यूरोप में संस्कृत के पठन-पाठन में और अधिक दिलचस्पी ली जाएगी।

इसके बाद स्वामीजी ने दिखलाया कि पूर्वकाल में 'हिन्दू' शब्द सिन्धु नदी के इस पार बसनेवाले लोगों के लिये प्रयुक्त होता था और इस कारण सार्थक था, परन्तु आज वह सर्वथा निरर्थक है और न तो यह राष्ट्र का बोधक रह गया है, न ही जाति का, क्योंकि अब सिन्धु नदी के इस पार विभिन्न धर्मों के अनुयायी अनेक जातियों के लोग निवास करते हैं।

१. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter, P. 123, 132

२. वही, पृ. ११४; युगनायक विवेकानन्द, ३/६०-६१

इसके बाद स्वामीजी ने वेदों पर विस्तृत रूप से चर्चा की और कहा, ''वेद किसी व्यक्ति-विशेष के वाक्य नहीं हैं। इन विचारों का धीरे-धीरे विकास हुआ, फिर अन्ततः उन्हें ग्रन्थ का रूप दे दिया गया और वह ग्रन्थ प्रमाण बन गया।'' उन्होंने कहा, ''अनेक धर्म इसी भाँति ग्रन्थबद्ध हुए हैं। ग्रन्थों का प्रभाव भी असीम प्रतीत होता है। हिन्दुओं के ग्रन्थ वेद हैं और इन्हीं पर अभी उन्हें हजारों वर्षों तक निर्भर रहना होगा। परन्तु वेदों के विषय में उन्हें अपने विचार बदलने होंगे और उन्हें नये सिरे से दृढ़ चट्टान की नींव पर स्थापित करना होगा। वेदों का साहित्य विशाल है, परन्तु अब तक उनका निन्यानबे प्रतिशत अंश खो चुका है। वेदों के विभिन्न अंश विभिन्न परिवारों के संरक्षण में थे। उन परिवारों का लोप हो जाने से, वे वेदांश भी लुप्त हो गये; परन्तु अब भी जो कुछ बचा हुआ है, वह भी इस बड़े हॉल में भी नहीं अँटेगा। ये वेद अत्यन्त प्राचीन तथा अति सरल भाषा में लिखे गये थे। उनका व्याकरण भी इतना अस्पष्ट है कि बहुतों के मतानुसार वेदों के कई अंशों का कोई अर्थ ही नहीं निकलता।''

इसके बाद स्वामीजी ने वेद के दो भागों – कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की विस्तृत समीक्षा की। उन्होंने बताया कि संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों को कर्मकाण्ड कहते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञ आदि से सम्बन्धित हैं। संहिताएँ अनुष्टुप, त्रिष्टुप, जगती आदि छन्दों में रचित गेय पद हैं। सामान्यतः उनमें इन्द्र, वरुण या किसी अन्य देवता की स्तुति है। और फिर प्रश्न उठा कि 'ये देवता कौन हैं?' इनके सम्बन्ध में अनेक मत विकसित हुए, किन्तु वे अन्य मतों के द्वारा खण्डित कर दिये गये। ऐसा बहुत दिनों तक चलता रहा।

इसके बाद स्वामीजी ने उपासना प्रणाली विषयक विभिन्न धारणाओं की व्याख्या की। बेबिलोन के प्राचीन निवासियों का आत्मा के बारे में ऐसा विश्वास था कि वह एक प्रतिरूप-शरीर (double) मात्र है, उसका अपना कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं होता और वह देह कभी भी मूल देह से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं कर सकती। उनका विश्वास था कि इस 'प्रतिरूप' शरीर को भी मूल शरीर की भाँति भूख, प्यास, भावना आदि के विकार होते हैं। साथ ही उनका यह भी विश्वास था कि मृत मूल शरीर पर किसी तरह का आघात होने से 'प्रतिरूप' शरीर भी आहत होगा। मूल शरीर के नष्ट होने पर 'प्रतिरूप' शरीर भी नष्ट हो जाएगा। अतः मृत शरीर के रक्षण की प्रथा शुरू हुई और इस प्रकार ममी, समाधि तथा कब्र अस्तित्व में आये। मिस्री, बेबीलोनी तथा यहूदी जातियाँ इस 'प्रतिरूप' शरीर की धारणा के आगे बढ़कर उसके परे 'आत्मा' के तत्त्व तक नहीं पहुँच सकीं।

प्राध्यापक मैक्समूलर का कहना है कि ऋग्वेद में पितर-पूजा का लेश मात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसा बीभत्स तथा भयावह दृश्य भी वेदों में नहीं मिलता, जिसमें ममियाँ आँखें फाड़े हुए हमें घूर रही हों। वेदों के देवता मनुष्यों के प्रति मित्र भाव रखते हैं। देवता तथा उपासक का सम्बन्ध सहज और सौम्य है। उसमें किसी प्रकार की म्लानता का भाव नहीं है, और न उनमें सहज आनन्द और सरल हास्य का अभाव ही है। स्वामीजी ने कहा – ''वेदों की चर्चा करते समय मानो मैं देवताओं की हास्य-ध्वनि स्पष्ट सुनता हूँ। भले ही वैदिक ऋषिगण अपने सम्पूर्ण भावों को भाषा में न प्रकट कर सके हों, किन्तु वे सुसंस्कृत और हृदयवान थे। उनकी तुलना में हम लोग जंगली सिद्ध होंगे।''

इसके बाद स्वामीजी ने अपने कथन की पुष्टि में अनेक वैदिक मंत्रों की आवृत्ति की। (भावार्थ) – 'हमें उस स्थान पर ले चलो, जहाँ पितृगण निवास करते हैं और जहाँ कोई शोक-दुःख नहीं है।' आदि आदि। ''इसी प्रकार इस देश में इस धारणा का विकास हुआ कि शव को जितनी जल्दी जला दिया जाये, उतना ही अच्छा। उन्हें क्रमशः ज्ञात हो गया कि स्थूल देह के पीछे एक सूक्ष्म देह भी है, जो स्थूल देह छूटने के बाद एक ऐसे स्थान में पहुँच जाती है, जहाँ केवल आनन्द मात्र है – दुःखों का नामो-निशान तक नहीं। सेमेटिक धर्म – भय तथा कष्ट के भावों से परिपूर्ण हैं। उनकी धारणा थी कि यदि मनुष्य ने ईश्वर का दर्शन कर लिया, तो वह मर जायेगा। परन्तु ऋग्वेद का भाव यह है कि मनुष्य का यथार्थ जीवन तो ईश्वर से साक्षात् मिलन के बाद ही शुरू होता है।

''अब यह प्रश्न उठा कि ये देवता कौन हैं? इन्द्र कभी-कभी आकर मनुष्यों की सहायता करते थे और कभी-कभी वे अत्यधिक सोम का पान भी करते थे। कई जगह उनके लिये सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी आदि विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है। वरुण देवता के बारे में भी इसी प्रकार विभिन्न धारणाएँ हैं। देवों के चरित्र-विषयक ये वर्णनात्मक मंत्र कहीं-कहीं बड़े ही अपूर्व हैं और भाषा भी अत्यन्त उदात्त है।''

इसके बाद स्वामीजी ने प्रलय-काल का वर्णन करनेवाले सुविख्यात 'नासदीय सूक्त' सुनाया, जिसमें 'अन्धकार का अन्धकार से ढँका होना' वर्णित है और कहा, ''जिन लोगों ने इन महान् भावों का इस प्रकार की कविता में वर्णन किया है, यदि वे ही असभ्य और असंस्कृत थे, तो फिर हमें अपने आप को क्या कहना चाहिये? मैं इन ऋषियों या इन्द्र, वरुण आदि उनके देवताओं की किसी प्रकार की समालोचना करने या उनके बारे में कोई निर्णय देने के योग्य नहीं हूँ। मानो क्रमशः दृश्य पर दृश्य बदलता चला आ रहा है और सबके पीछे – **एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति** (सत्य एक है, ऋषिगण उसका विविध प्रकार से वर्णन करते हैं) – की पृष्ठभूमि है। इन देवताओं का वर्णन बड़ा ही आध्यात्मिक, अपूर्व तथा अति सुन्दर है। वह बिल्कुल अगम्य प्रतीत होता है –

आवरण इतना सूक्ष्म है, मानो स्पर्श मात्र से ही फट जायेगा और मृग-मरीचिका की भाँति लुप्त हो जायेगा।

उन्होंने आगे कहा, ''एक बात मुझे काफी स्पष्ट तथा सम्भव प्रतीत होती है और वह यह है कि यूनानियों की भाँति आर्य लोग भी अपनी समस्याओं को हल करने निकले, तो पहले प्रकृति ने उन्हें बाहर की ओर प्रवृत्त किया और क्रमश: सुन्दर रमणीय बाह्य जगत् में ले गयी। किन्तु भारत की यह विशेषता है कि जिस वस्तु में कोई उदात्तता नहीं होती, उसका यहाँ कुछ भी मूल्य नहीं होता। मृत्यु के बाद का रहस्य जानने की जिज्ञासा यूनानियों के मन में उठी ही नहीं। किन्तु भारत में आरम्भ से ही बारम्बार यह प्रश्न पूछा जाता रहा – 'मैं कौन हूँ? मृत्यु के पश्चात् मेरी क्या गति होगी?' यूनानियों ने सोचा कि मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग में जाता है। स्वर्ग में जाने का क्या तात्पर्य है? इसका अर्थ था – सब कुछ के बाहर जाना, भीतर कुछ भी नहीं था। उनके लिये सब कुछ केवल बाहर ही था। उनका लक्ष्य केवल बाहर की ओर था और केवल इतना ही नहीं, मानो वे स्वयं भी अपने आप से बाहर थे। उन्होंने सोचा कि जब वे एक ऐसे स्थान में जा पहुँचेंगे, जो बहुत कुछ इसी संसार की भाँति है, परन्तु वहाँ इस संसार के दु:ख-क्लेशों का सर्वथा अभाव है, तो उन्हें अपनी अभिलाषित वस्तु प्राप्त हो जायेगी और वे तृप्त हो जायेंगे। उनकी धर्म-सम्बन्धी भावना यहीं पर ठहर गयी।

''परन्तु हिन्दुओं का मन इतने से तृप्त नहीं हुआ। उसने विचार किया कि ऐसा स्वर्ग भी तो स्थूल जगत् के अन्तर्गत है। हिन्दुओं का मत है कि जो कुछ संयोग से उत्पन्न होता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। उन्होंने बाह्य प्रकृति से पूछा, 'क्या तुम जानती हो कि आत्मा क्या है?' उत्तर मिला, 'नहीं।' प्रश्न हुआ, 'क्या कोई ईश्वर है?' प्रकृति ने उत्तर दिया, 'मैं नहीं जानती।' तब वे प्रकृति से विमुख हो गये। वे समझ गये कि बाह्य प्रकृति, चाहे कितनी ही महान् और भव्य क्यों न हो, वह देश-काल की सीमा में आबद्ध है। तब एक अन्य वाणी उत्थित हुई, उनके मानस में नये उदात्त भावों का उदय हुआ। वह वाणी थी – 'नेति, नेति' – 'यह नहीं, यह नहीं'। तब सारे विभिन्न देवता एक में समाहित हो गये; सूर्य, चन्द्र, तारे – इतना ही क्यों, समग्र ब्रह्माण्ड – एक हो गया और इस नवीन आदर्श पर उनके धर्म का आध्यात्मिक आधार स्थापित हुआ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। (कठोपनिषद् ३/१)

– 'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता और न चन्द्र, न तारे, न विद्युत् ही, फिर इस भौतिक अग्नि का तो कहना ही क्या! उसी के प्रकाशमान होने से ही सब कुछ प्रकाशित होता है, उसी के प्रकाश से सारी चीजें प्रकाशित हैं।'

''अब उस सीमाबद्ध, अपरिपक्व व्यक्ति-विशेष के रूप में सबके पाप-पुण्यों का विचार करनेवाले ईश्वर की क्षुद्र धारणा शेष नहीं रही; अब बाहर की खोज समाप्त हुई, अपने भीतर अन्वेषण आरम्भ हुआ। इस भाँति उपनिषद् भारत के मुख्य धर्मग्रन्थ हो गये। उपनिषदों का विशाल साहित्य है। और भारत में जो विभिन्न मतवाद प्रचलित हैं, वे सभी उपनिषदों की भित्ति पर ही स्थापित हुए हैं।''

इसके बाद स्वामाजी ने द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत मतों का उल्लेख करते हुए, उनके सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए कहा, ''इनमें प्रत्येक एक-एक सीढ़ी के समान है – पहली सीढ़ी पर चढ़ने के बाद दूसरी सीढ़ी पर पहुँचा जा सकता है; और अन्तिम सोपान है – **तत्त्वमसि**, जिसके द्वारा, सहज परिणति के रूप में अद्वैतवाद में प्रतिष्ठित हुआ जाता है।''

उन्होंने बताया कि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य आदि महान् भाष्यकारों ने भी भूलें की हैं। इनमें से प्रत्येक उपनिषदों को ही एकमात्र प्रमाण मानता था, तथापि वे इस भ्रम में पड़े कि उपनिषद् केवल एक ही मत की शिक्षा देते हैं। शंकराचार्य इस भ्रम में पड़े थे कि समस्त उपनिषदों में केवल अद्वैतवाद की ही शिक्षा है, दूसरा कुछ है ही नहीं। और जहाँ कहीं उन्हें द्वैत भावमूलक श्लोक मिले, उन्होंने उसे खींचतान कर अपने मत की पुष्टि के लिये उनका विकृत अर्थ निकाला। रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य को भी जब शुद्ध अद्वैतभाव के श्लोक मिले, तो उन्होंने वैसा ही किया। यह सर्वथा सत्य है कि उपनिषद् एक तत्त्व की शिक्षा देते हैं, परन्तु इस तत्त्व की शिक्षा एक-एक कर सीढ़ियों पर चढ़ने के समान क्रम से दी गयी है।

स्वामीजी ने खेद व्यक्त करते हुए कहा कि वर्तमान भारत में धर्म का मूल तत्त्व नहीं रह गया है, सिर्फ थोड़े बाह्य अनुष्ठान मात्र शेष बचे हैं। भारतवासी इस समय न तो हिन्दू हैं और न वेदान्ती, वे तो केवल छूआछूत मत के पोषक हैं। रसोई-घर ही उनके मन्दिर हैं और रसोई के हण्डी-बर्तन ही उनके देवता हैं। इस स्थिति का अन्त होना ही चाहिये। जितना शीघ्र इसका अन्त हो, उतना ही हमारे धर्म के लिये अच्छा है। उपनिषद् अपनी महिमा में उद्भासित हों और साथ ही विभिन्न सम्प्रदायों के आपसी विवाद भी समाप्त हो जायँ।

स्वामीजी का स्वास्थ्य उस समय ठीक न था। अत: यहीं तक बोलकर वे थक गए। उन्होंने आधे घण्टे तक विश्राम किया, परन्तु व्याख्यान को अन्त तक सुनने के लिए श्रोतागण धैर्यपूर्वक बैठे रहे। वे फिर बाहर आये पुन: आधा घण्टा बोले। उन्होंने बताया कि बहुत्व के भीतर एकत्व की खोज करना ही ज्ञान का ध्येय है; जब कोई विज्ञान सभी प्रकार की

विविधताओं में स्थित एकमात्र वस्तु की जानकारी पा लेता है, तो उसी को उस विज्ञान का चरम उत्कर्ष माना जाता है। यह नियम भौतिक विज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान – दोनों पर समान रूप से लागू होता है।[३] स्वामीजी ने अपने व्याख्यान के अन्त में राजा के उत्तम चरित्र का उल्लेख करते हुए बताया कि उन्होंने एक सच्चे क्षत्रिय के रूप में हिन्दू धर्म के सनातन सत्यों का पश्चिम में प्रचार करने में उनकी भौतिक रूप से सहायता की थी। यह व्याख्यान खेतड़ी की जनता पर एक अमिट छाप छोड़ गया।[४]

कुछ अन्य बातें

'ब्रह्मवादिन्' के लेख में है – "स्वामीजी के लिए खेतड़ी का काम जितना आनन्ददायक था उतना ही विश्रामदायक भी था। व्याख्यान देने तथा अपने लिए आयोजित समारोहों में भाग लेने के अतिरिक्त बचे हुए समय के दौरान वे अश्वारोहण, विभिन्न स्थानों का परिदर्शन और अपने संगियों तथा राज-परिवार के लोगों के साथ वार्तालाप किया करते थे।

स्वामी सदानन्दजी का अश्वारोहण

स्वामीजी के शिष्य स्वामी सदानन्द बड़े साहसी स्वभाव के थे। खेतड़ी में एक दिन वे एक अत्यन्त उद्दण्ड तेजस्वी घोड़े पर सवार हुए और उसे खूब दौड़ाने लगे। स्वामीजी राजमहल की छत पर खड़े खड़े विस्मयपूर्वक अपलक-नेत्रों से अपने शिष्य का यह कृत्य देख रहे थे। पास ही खड़े राजा अजीतसिंह और अन्य सभी यह उस दौड़ते हुए दुष्ट घोड़े की पीठ पर सवार सदानन्द को देखकर भय से घबरा गये थे। पर सदानन्द दृढ़ बाहु से घोड़े की लगाम सँभालते हुए उसे तीर-वेग से दौड़ा रहे थे। थोड़ी देर बाद ही घोड़े ने सवार को पहचान लिया और उनके नियंत्रण में आ गया। अपने शिष्य की यह दृढ़ता देखकर स्वामीजी उस दिन बड़े खुश हुए थे। सदानन्द के लौट आने पर उन्होंने उनके अश्वारोहण की प्रशंसा करते हुए आह्लादपूर्वक उनकी पीठ ठोकते हुए कहा था, "वत्स सदानन्द, तुम्हीं मेरे ठीक-ठीक मर्द चेले हो।"[५]

खेतड़ी में शास्त्र-अध्ययन

खेतड़ी-प्रवास के दौरान भी शास्त्र की कक्षाओं को विराम नहीं मिला था। शुद्धानन्दजी लिखते हैं – "खेतड़ी में एक ब्रह्मचारी के आग्रह पर कुछ दिनों तक सांख्य-दर्शन की पढ़ाई हुई थी। हम लोगों में से केवल एक को छोड़कर, जिन्हें स्वामीजी के भोजन आदि बनाने के लिये अन्यत्र रहना पड़ता था, सभी को – यहाँ तक की निरक्षर लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) को भी, पाठ में उपस्थित रहना पड़ता था। स्वामीजी इन्हें बुलाते, "लाटू आओ, इधर आओ, सांख्य सुनो, बुद्धि अच्छी तरह शुद्ध होगी।" इसके बाद यह कहकर कि श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव ने किस प्रकार स्वयं लाटू महाराज को 'क' 'ख' सिखाना आरम्भ किया था और लाटू किस प्रकार 'का' 'खा' उच्चारण करते थे। फिर श्रीरामकृष्णदेव 'चुप चुप' कहकर पढ़ाना बन्द कर देते थे, यह सब किस्सा स्वामीजी ने हँस-हँसकर बताया था।"[६]

स्वामी अद्भुतानन्द का ज्ञान

स्वामी अद्भुतानन्द स्वामीजी के एक अशिक्षित गुरुभाई थे, परन्तु उनकी ज्ञान और भक्ति विलक्षण थी। वहाँ खेतड़ी के महाराजा के साथ उन्होंने इतनी बुद्धिमत्तापूर्वक बातचीत की कि महाराजा नहीं समझ पाये कि वे बिल्कुल निरक्षर हैं। अपितु उनकी बातचीत पर विशेष आनन्दित होकर खेतड़ी-नरेश ने स्वामीजी के समक्ष उनकी बड़ी प्रशंसा की थी।[७]

खेतड़ी के सुखमहल में रहते समय एक दिन तो लाटू महाराज के साथ एक बड़ी मजेदार घटना हुई थी। राजा की धारणा थी कि स्वामीजी के गुरुभाई लाटू महाराज भी अंग्रेजी भाषा जानते हैं। इसलिये एक दिन वे उन्हें एक बड़े ग्लोब के सामने ले जाकर उस मानचित्र में अंकित किसी देश के बारे में उनसे अंग्रेजी भाषा में कुछ पूछने लगे। लाटू महाराज तो निरुत्तर होकर केवल खड़े-खड़े मानचित्र की ओर देखते रहे। उसी समय स्वामीजी भी थोड़ी दूरी पर बरामदे में टहल रहे थे। लाटू महाराज की हालत समझकर वे तत्काल वहाँ आ गये और राजा को उस देश के बारे में बहुत-कुछ इस प्रकार बताने लगे कि वे (राजा) भी खूब प्रसन्न हो गये, परन्तु वे जरा भी न समझ सके कि लाटू महाराज अंग्रेजी नहीं जानते। (इस तरह) स्वामीजी ने लाटू महाराज की मान-रक्षा की।"[८]

विस्मय की बात तो यह है कि राज-अतिथि होकर भी लाटू महाराज ने एक दिन भी राज-अन्न ग्रहण नहीं किया। उन्होंने स्वयं बताया था, "वे (श्रीरामकृष्ण) कहा करते थे कि साधु को राजा का अन्न नहीं खाना चाहिए। इसीलिए चुपचाप बाहर जाकर खा आता था। राजा के पूछने पर कह देता, 'खा लिया है।' एक दिन मैंने राजा के दरबान से बलपूर्वक बैगन का भर्ता और रोटियाँ माँग ली थी। वह किसी भी हालत में देने को राजी न था, भय था कि कहीं राजा जान गये तो वे क्या कहेंगे !"[९]

❖ (क्रमशः) ❖

३. विवेकानन्द साहित्य. प्रथम सं., खण्ड ५, पृ. ३२४-३२९

४. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter, P. 116

५. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), कलकत्ता, सं. १९९३, पृ. २४०; युगनायक विवेकानन्द, सं. २००५, खण्ड ३, पृ. ३१२-१३

६. समन्वय मासिक, फरवरी १९२८, पृ. ८४-८५

७. अद्भुत सन्त : अद्भुतानन्द', नागपुर, सं. १९९१, पृ. २०७

८. 'अद्भुतानन्द-प्रसंग' (बँगला), स्वामी सिद्धानन्द, सं. १९६०, पृ.९९; ६. अद्भुत सन्त : अद्भुतानन्द', सं. १९९१, पृ. २०७

९. वही, पृ. २०८; श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका, प्र.सं., भाग१, पृ.४१०

माँ की स्मृति

ब्रह्म गोपाल दत्त

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

माँ के साथ बागबाजार के दत्त-परिवार का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। उक्त परिवार का लक्ष्मीदत्त लेन में स्थित मकान 'लक्ष्मी-निवास' माँ की पद्धूलि से पवित्र हुआ था। इसके अलावा काशी के उनके 'लक्ष्मी-निवास' में भी माँ ने सुदीर्घ ढाई माह बिताये थे। मेरे पिता किरणचन्द्र दत्त इसी परिवार के उनके मंत्र-शिष्यों में एक थे, जो उनके सेवक तथा रसददार दोनों थे। किरणचन्द्र की पुत्री शिवरानी और उनके दो भतीजों सुधांशु मोहन और विभूति भूषण को भी माँ से दीक्षा मिली थी।

माँ के बारे में जो कुछ लिख रहा हूँ, उसका अधिकांश सुना हुआ है, तथापि कुछ-कुछ मेरी स्मृति से भी है। १९०४ ई. में बागबाजार के 'लक्ष्मी-निवास' में माँ प्रथम बार यतीन्द्रनाथ मित्र की वैष्णव -पदावली सुनने के लिये आयी थीं। माँ के साथ गोलाप-माँ, योगीन-माँ एवं कुछ अन्य भक्त महिलाएँ भी थीं। 'माथुर' कीर्तन सुनकर माँ गम्भीर समाधि में निमग्न हो गईं। भावाविष्ट माँ के निर्देश पर गोलाप-माँ ने गृहस्थों के कल्याण-कामना के मिलन का गीत गाकर कीर्तन समाप्त करने को कहा। इसके बाद देखा गया कि भावावेश में माँ की बाह्य चेतना पूर्ण रूप से जा चुकी है। इसी अवस्था में माँ के मुँह में थोड़ी मिठाई खिलाकर उसी ध्यानावस्था में ही गोलाप-माँ तथा योगीन-माँ ने किसी प्रकार उन्हें गाड़ी पर चढ़ाया और उन्हें उनके तत्कालीन वासगृह २/१ बागबाजार स्ट्रीट ले गयीं। किरणचन्द्र लगभग उनके साथ-ही-साथ वहाँ तक माँ का समाचार लेने गये थे। योगीन-माँ ने उनसे कहा – "वृन्दावन में माँ की ऐसी भाव-समाधि हुई थी। आज फिर देखा; और कभी नहीं देखा।"

इसी मकान में उनका दूसरी बार शुभागमन १९०९ ई. में आन्दूल का काली-कीर्तन सुनने के लिये हुआ। दुमंजिले के पूजाघर में बैठकर उन्होंने सामने मैदान में आयोजित काली-कीर्तन सुना। इस परिवार के लिये सर्वाधिक आनन्द की घटना तब हुई थी, जब मंगलवार, २६ मार्च १९१२ ई. को अन्नपूर्णा-पूजा के उपलक्ष्य में माँ तीसरी बार आयीं। उस दिन उन्होंने दुमंजिले के ठाकुरघर में अपने हाथों से ठाकुर के चित्रपट की पूजा करके अन्नभोग निवेदित किया और बोलीं – "ठाकुर को भोग निवेदित करके देखा, उन्होंने ग्रहण किया है।" इस प्रकार वे अपना 'अन्नपूर्णा-स्वरूप' प्रकट करके इस कायस्थ-परिवार को ठाकुर को अन्नभोग देने का अधिकार दे गयीं। उनके निर्देश और अनन्त आशीर्वाद से यह पूजा आज भी दत्त परिवार में जारी है। ये सारी बातें मेरे पिता की डायरी में लिपिबद्ध हैं।

अमेरिका के हॉलीवुड केन्द्र के पूर्व अध्यक्ष स्वामी प्रभवानन्द महाराज ने एक पत्र में मुझे लिखा था, "माँ के बारे में एक बात बताऊँ? पूजनीय हरि महाराज से मैंने सुना है – बाहर के सारे कामकाज करते हुए भी, माँ हमेशा समाधि की अवस्था में रहती थीं। उनका मन विशुद्ध चक्र के नीचे नहीं उतरता था। यही विशेष आश्चर्य की बात है!"

एक दिन बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) 'माँ के घर' (उद्बोधन) आये। उनके साथ महाराज के सेवक स्वामी वरदानन्द थे। 'माँ के घर' में घुसने के पूर्व बाबूराम महाराज ने चौखट पर सिर टेककर प्रणाम किया तथा वरदानन्दजी को भी वैसे ही प्रणाम करने को कहा। वरदानन्दजी को थोड़ा झिझकते देखकर बाबूराम महाराज बोले, "अरे बुद्धू, जानता नहीं ऊपर कौन हैं? इस बार दो हाथ तथा मुण्डमाला छोड़कर आयी हैं, इसीलिये तू पहचान नहीं पा रहा है!"

बचपन में दो-तीन बार माता-पिता के साथ 'माँ के घर' जाकर माँ के दर्शन और चरण स्पर्श का सौभाग्य मुझे मिला था। मुझे याद है एक बार 'माँ के घर' में अब भी विद्यमान पत्थर की सीढ़ियों से दूसरी मंजिल पर चढ़ते समय दाहिनी ओर के कमरे में, अन्य भक्त महिलाओं के साथ मैंने भी अपनी माता के साथ बैठकर प्रसाद ग्रहण किया था। खाना समाप्त होने को था, तभी सहसा माँ एक छोटी-सी तश्तरी में मिठाइयाँ लेकर आयीं और अपने हाथों से सभी के पत्तल में देकर सबको धन्य किया।

मैंने स्वामी अपूर्वानन्द से सुना है कि जब माँ काशी के 'लक्ष्मी-निवास' में ठहरी थीं, उस समय एक दिन प्रात:काल वे अपना ही एक चित्र हाथ में लिये दुमंजिले से नीचे उतरीं। इसके बाद उन्होंने उद्यान से कुछ फूल तोड़कर अपनी आँचल में बाँध लिये। फिर 'लक्ष्मी-निवास' से अद्वैत-आश्रम में

जाकर उन्होंने मन्दिर की वेदी पर ठाकुर के चित्र के पास अपना भी चित्र रखा और दोनों चित्रों पर फूल चढ़ाकर प्रणाम किया। उसके बाद महापुरुष महाराज को बुलवाकर (अपना चित्र दिखाते हुए) बोली, "इस चित्र पर भी प्रतिदिन दो फूल चढ़ाना।" बाद में महापुरुष महाराज के एक सेवक स्वामी अपूर्वानन्द ने यह घटना महापुरुष महाराज से सुनी थी।

२१ जुलाई १९२० ई. की रात को डेढ़ बजे माँ इस धराधाम को छोड़कर चली गयीं। कुछ देर बाद ही कृष्णलाल महाराज (धीरानन्द जी) मेरे पिता किरनचन्द्र को यह समाचार देने 'लक्ष्मी-निवास' आये। उस समय किरनचन्द्र खूब बीमार तथा बिस्तर पकड़े हुए थे। उनके बड़े भाई हरिपद दत्त से किरणचन्द्र की इस अवस्था की बात सुनकर कृष्णलाल महाराज बिना किसी को कुछ बताये ही चले गये। अगले दिन सुबह वे फिर आये और उन्होंने किरणचन्द्र को यह मर्मभेदी सूचना दी। समाचार पाते ही पूरा दत्त-परिवार घोर शोक में डूब गया। किरनचन्द्र ने माँ के अन्तिम संस्कार के लिये चन्दन-काष्ठ तथा घी खरीदने हेतु कृष्णलाल महाराज को आवश्यक धन दिया। कृष्णलाल महाराज चले गये।

किरणचन्द्र ने बड़े भाई से कहा – "माँ के घर जाकर उन्हें अपना अन्तिम प्रणाम निवेदित कर आना और घर में हम सभी तीन दिन अशौच का पालन करेंगे।"

किरणचन्द्र दत्त के निर्देश पर दत्त-परिवार के आबाल-वृद्ध-वनिता – सभी लोग माँ को अन्तिम प्रणाम करने गये। उस समय मेरी आयु लगभग दस वर्ष थी। घर के अन्य लोगों के साथ मैं भी माँ को प्रणाम करने गया था। 'माँ के घर' जाकर देखा, पूजागृह (वही माँ का शयनगृह भी था) के बीच में माँ का भागवती तनु रखा था। सिर पूर्व दिशा में ठाकुर के सिंहासन की तरफ था। कुछ दिनों पूर्व माँ के अस्वस्थ होने पर जब उनका बिस्तर कमरे की फर्श पर लगाया गया था, तभी सिंहासन के साथ ही ठाकुर का चित्र तीसरी मंजिल पर स्थानान्तरित कर दिया गया था। कृष्णलाल महाराज गुड़हल के फूलों की टोकरी लिये माँ की शय्या के सामने खड़े थे। वे हर व्यक्ति के हाथ में एक फूल देते और वह कतार में चलकर फूल माँ के चरणों में रखकर प्रणाम करके चला जाता। हम लोगों ने भी वैसा ही किया।

पिता के निर्देशानुसार हमारे घर के सब लोगों ने तीन दिन अशौच का पालन किया था। अगले दिन मैं हमेशा की तरह स्कूल गया – पर नंगे पैर, बिना तेल के रूखे बालों में। शिक्षक महाशय के पूछने पर मैंने कहा, "श्रीमाँ का देहत्याग हुआ है, इसीलिये हम लोगों का अशौच है।" शिक्षक महाशय के घर की चर्चा कानों में पड़ी, "सुनते हैं जी, रामकृष्ण परमहंस की पत्नी का देहान्त हुआ है और दत्त-परिवार में अशौच हैं।" उन लोगों की वह व्यंग्यपूर्ण उक्ति सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ था।

❖ (क्रमशः) ❖

पुरखों की थाती

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षण-च्छेदन-ताप-ताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन गुणेन कर्मणा ।।

– जैसे सोने की परीक्षा चार प्रकार से की जाती है – उसे (कसौटी पर) घिसा जाता है, काटा जाता है, गर्म किया जाता है तथा पीटा जाता है; वैसे ही व्यक्ति के चरित्र की परीक्षा भी चार तरह से की जाती है – उसका ज्ञान, उसका आचरण, उसके गुण तथा उसके कर्म देखे जाते हैं।

प्रभुर्विवेकी धनवाँश्च दाता
विद्वान्विरागी प्रमदा सुशीला।
तुरङ्गमः शस्त्रनिपातधीरो
भूमण्डलस्य आभरणानि पञ्च ।।

– संसार में पाँच प्रकार के लोग दुर्लभ और पृथ्वी-मण्डल के आभूषण-स्वरूप हैं – (१) विवेकवान स्वामी, (२) धनवान दाता, (३) वैराग्ययुक्त विद्वान्, (४) शीलवान नारी और (५) अश्व तथा शस्त्रों से रहित धीर पुरुष।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरत् भजन्ते
मूढः पर-प्रत्यय-नेयबुद्धिः ।।

– प्राचीन होने से ही सभी काव्य अच्छे नहीं हो जाते हैं और नवीन होने से ही कोई काव्य त्रुटिहीन नहीं हो जाता। विवेकी लोग भलीभाँति परीक्षा करके दोनों में से किसी एक का सेवन करते हैं, जबकि मूढ़ लोग दूसरों की बुद्धि से परिचालित होते हैं। ❑❑❑

साधना के सूत्र (१)

स्वामी माधवानन्द

बेलूड़ मठ

शनिवार, १५ सितम्बर १९६२

माँ-काली ही इस युग में श्रीरामकृष्ण के रूप में आयी हैं। हम यदि एक कदम उनकी ओर अग्रसर हों, तो वे सौ कदम हमारे निकट आ जाते हैं। वे दयामय हैं। वे ही कृपा करके दर्शन देते हैं। संसार में आपत्ति-विपत्ति, सुख-दु:ख थोड़े-बहुत लगे ही रहेंगे। उधर ध्यान न देकर इष्ट को पुकारते रहना होगा। अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। वे सहज भाषा में सरल शब्दों में धर्म की बातें कह गये हैं – 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ में वह सब निबद्ध है।

उन्हें अपना समझना। वे माँ-बाप से भी अधिक अपने हैं। उन्हीं के प्रेम का कुछ अंश हमें संसार में दीख पड़ता है। संसार में रहते हुए ही उन्हें अपना बना लेना होगा। वे हमारी प्रार्थना सुनते हैं। उतावला होने की कोई जरूरत नहीं। वे दर्शन अवश्य देंगे।

बेलूड़ मठ

रविवार, १६ सितम्बर १९६२

प्राणों का योग सबसे बड़ी चीज है। सांसारिक वस्तुओं के लिये सभी लोग दौड़ते हैं, परन्तु ईश्वर-प्राप्ति के लिये कितने लोग प्रयास करते हैं? हमारा विश्वास है कि ठाकुर ही साक्षात् भगवान हैं। वे मानव रूप धारण करके आये हैं। हमारी हल्की-सी पुकार को भी वे सुनते हैं।

एक-न-एक दिन वे दर्शन अवश्य देंगे। शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) ने मुझसे कहा था – "इस युग में जो ठाकुर का स्मरण करेगा, उसके लिये भय की कोई बात नहीं।" ठाकुर के उपदेश 'वचनामृत' ग्रन्थ में मिलेंगे। उसमें सरल भाषा में संक्षेप में सब कुछ कह दिया गया है। 'लीला-प्रसंग', 'माँ की बातें' आदि ग्रन्थ भी पढ़ना। माँ और ठाकुर की बातें अलग-अलग नहीं हैं। प्रार्थना करने पर वे अवश्य सुनेंगे। परन्तु उनका दर्शन पाना या उनकी पुकार सुन पाना – हमारी तैयारी के अभाव में नहीं हो पाता। दिन में तारे दिखायी नहीं देते, तो भी तारे तो होते ही हैं; उनका दर्शन न मिलने पर भी, वे हैं और हमारी पुकार सुनते हैं। ठाकुर ने इस युग में आकर धर्मजीवन को खूब सहज कर दिया है। वायु तथा जल के समान सुलभ कर दिया है। परन्तु उसका अनुभव करना होगा। अपने व्यावहारिक जीवन में उतारकर दिखाना होगा। यही परीक्षा है।

बेलूड़ मठ

सोमवार, २४ सितम्बर १९६२

सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम कितने मन-प्राण से उन्हें पुकार रहे हैं। जब छोटा बच्चा रोता है, तो माँ भात की हण्डी उबलता छोड़कर चली आती है। वे हमारे माँ-बाप के समान हैं। जो भी करना, पूरे हृदय से करना। बहुत अधिक करना पड़े, ऐसी कोई बात नहीं है। परन्तु खूब धैर्य चाहिये। साक्षात् शिव और काली ठाकुर का रूप धारण करके आये हैं। स्वामीजी ने कहा है कि वे ही सर्व-देव-देवी-स्वरूप हैं।

जिसका जो प्राप्य है, उसे वे प्रदान करेंगे। वे ऋणी नहीं रहेंगे। समझे? तुम लोगों का दु:ख-दारिद्र्य, अभाव आदि थोड़ा-बहुत तो लगा ही रहेगा; परन्तु उनका स्मरण-मनन मत छोड़ना।

बेलूड़ मठ

मंगलवार, २ अक्तूबर १९६२

ठाकुर के मुख से जो बातें निकली हैं, वे अपूर्व हैं। उन्हीं उक्तियों के माध्यम से उनका आशीर्वाद प्रवाहित हो रहा है। उनसे धर्म-जीवन की सच्ची बातें समझ सकोगे। भगवान हमारी निष्ठा को देखते हैं। पति, पत्नी, पिता, माता – ये सभी ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हैं। छोटे बच्चों के समान जिद्द करते हुए उन्हें पुकारना होगा। उनसे केवल प्रार्थना ही नहीं, हठ भी करना। धर्म-जीवन एक तरह से बड़ा आसान है, सहज लभ्य है। फिर वह बहुत कठिन भी है – मानो वे बहुत दूर हों। केवल निष्ठा की ही आवश्यकता है। हमारी पुकार ठीक-ठीक हृदय से निकलने पर, वे उत्तर अवश्य देंगे। वे हमारी दोष-त्रुटियों पर ध्यान नहीं देते। छोटा बालक जब खिलौना लेकर उसी में भूला रहता है, तो माँ नहीं आती। परन्तु जब वह खिलौना छोड़कर रोने लगता है, तब माँ दौड़कर आ जाती है। इसी प्रकार हम लोगों को भी जागतिक विषयों की लालसा छोड़कर उन भगवान को ही चाहना होगा। पूरब की ओर जितना ही आगे बढ़ोगे, पश्चिम उतना ही पीछे छूटता जायेगा। संसार की आसक्ति घट जायेगी।

जप-ध्यान करते-करते तुम लोगों की सद्बुद्धि जाग उठेगी। जप बड़ा ही आसान है। ध्यान सबसे नहीं होता, परन्तु जप सभी लोग कर सकते हैं। जप पूरे दिल से होना चाहिये। नाम और नामी अभेद हैं। भगवान ने कृपा करके इस नाम के भीतर

ही अपनी सारी शक्ति दे दी है। इसीलिये ठाकुर कहा करते थे – जपात् सिद्धिः। ठाकुर इस युग के जगद्गुरु हैं। वे सच्चे धर्म का मार्ग दिखाने के लिये ही आये हैं।

बेलूड़ मठ

गुरुवार, ४ अक्तूबर १९६२

साधन-भजन करने पर उसका सुफल अवश्य होगा। परन्तु देरी भी हो, तो परेशान होने की जरूरत नहीं। ठाकुर दिखा गये हैं कि भगवान को किस प्रकार पुकारना होगा। 'वचनामृत' पढ़कर देख सकते हो। वे कृपा करके मानव-शरीर धारण करके, माँ को संग लेकर आये थे।

फल की ओर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत नहीं। बीज बोने पर वृक्ष अवश्य होगा। फल अवश्य होंगे। अविद्या का नाश होकर परम ज्ञान की प्राप्ति होगी। इसके लिये परिश्रम करना होगा और निष्ठा भी चाहिये। भय पाने की जरूरत नहीं। वे हमारे अपनों से भी अधिक अपने हैं। मन क्या आसानी से शुद्ध होता है? कटिये से मछली पकड़ना देखा है न! जैसे मछली फँसने के बाद उसे ढीला छोड़कर खेलने देते हैं; वैसे ही वे हमें थोड़ा-सा छोड़कर देखते हैं। इसके बाद वे खींचना शुरू करेंगे। एक-न-एक दिन वे दर्शन अवश्य देंगे। उन्हें खूब पुकारे जाओ। उनके असंख्य रूप हैं। चिन्तन करना ही असल बात है। इस पर विवाद करने से कोई लाभ नहीं। उनसे प्रेम करना होगा। उन्हें अपना समझ लेना होगा। उनसे प्रार्थना करना कि वे भीतर की सारी दुर्बलता-मलिनता दूर कर दें और अपने स्वरूप का दर्शन करायें। जो उनका ठीक-ठीक स्मरण करेगा, वह उनका दर्शन अवश्य पायेगा।

बेलूड़ मठ

बुधवार, १४ नवम्बर १९६२

व्याकुलता के साथ सच्चे हृदय से भगवान को पुकारना चाहिये। (उन्हें पुकारते समय) यदि कोई भूल भी हो, तो निष्ठा रहने पर कोई हानि नहीं होगी। ठाकुर ने कहा है न – छोटा शिशु बहुधा पिता या माँ को ठीक-ठीक उच्चारण के साथ पुकार नहीं पाता। क्या इस कारण वे लोग उसका दोष देखते हैं? या फिर भूल के कारण क्या उसकी ओर ध्यान देते हैं?

भगवान एक हैं। उनके अनेक नाम और रूप हैं, तो भी ठाकुर का चिन्तन करने से सुविधा ही होगी। स्वामीजी ने कहा है कि वे सर्व-देव-देवी-स्वरूप हैं। स्वयं पर और मंत्र पर विश्वास रखो। भगवान तो दर्शन देने के लिये व्याकुल हो रहे हैं। थोड़ा-सा साधन-भजन करते ही वे स्वयं आगे बढ़ आते हैं। पानी में डूब रहे व्यक्ति के समान व्याकुलता की आवश्यकता है।

संसार के सारे कार्य बड़े आदमी के घर की दासी के समान कर्तव्य-बुद्धि से करो। परन्तु मन का पूरा भाग संसार में खर्च मत कर देना। उसका कुछ अंश भगवान की ओर लगाओ। इसमें कोई हानि नहीं है। संसार में अल्प दिनों के लिये ही तो आना हुआ है।

ठाकुर सूक्ष्म शरीर में अब भी विद्यमान हैं।

बेलूड़ मठ

सोमवार, १७ दिसम्बर १९६२

प्रश्न – महाराज, मन को स्थिर कैसे किया जाय? हमें तरह-तरह के कार्य करने पड़ते हैं। शाम को ध्यान के लिये बैठने पर वे ही सब बातें मन में उठती हैं।

उत्तर – मन को कहना होगा – तू इस समय थोड़ी देर चुपचाप बैठ। इस समय परेशान मत कर। और भगवान से कहो – आप मन को थोड़ा अपनी ओर खींच लीजिये। यही अभ्यास किये जाना होगा। ध्यान कितने लोगों का ठीक-ठीक होता है? माँ भी तो कहा करती थीं – ध्यान क्या सहज ही हो जाता है? कुछ गिने-चुने जो खूब भाग्यवान लोग हैं, उन्हीं का होता है। भगवान इतना ही देखकर खुश हो जाते हैं कि चलो, प्रयास तो कर रहा है। इसलिये साधना का अभ्यास छोड़ना नहीं चाहिये। और बलपूर्वक करने पर भी मन कभी-कभी विद्रोह कर उठता है। इसके अतिरिक्त राजमार्ग जैसा कुछ नहीं होता।

(पत्रों से संकलित)

(१)

प्रश्न – मन बड़ा चंचल है; इसे वश में कैसे लाया जाय?

उत्तर – बहुत-से लोगों का मन स्वभाव से ही चंचल होता है। तो भी अभ्यास करते रहने से वह क्रमशः वश में आता है। मन चंचल होने पर भी तुम जप-ध्यान मत छोड़ना। भगवान के प्रति थोड़ा प्रेम होने पर मन कुछ-कुछ शान्त होगा। इस समय खूब (उद्यमपूर्वक) स्ट्रगल (प्रयास) करते रहो।

(२)

प्रश्न – मन कैसे भी शान्त नहीं होता।

उत्तर – मन क्या इतनी जल्दी शान्त हो जाता है? निष्ठापूर्वक प्रयास करते रहो, यथासमय ठाकुर की कृपा से वह सफल होगा। मन शान्त हो, या न हो, तुम नियमित रूप से जप-ध्यान के लिये बैठना बन्द मत करना। मन जितनी बार भी बाहर जायेगा, उतनी बार उसे वापस लौटाकर पुनः जप-ध्यान में लगाना। मूल बात यह है कि केवल 'हाय'-'हाय' न करके भगवान पर निर्भर रहने का अभ्यास करो। कातर होकर उन्हीं से प्रार्थना करो। जप, और जितना भी हो सके ध्यान करने की चेष्टा करो। इसी से काम हो जायेगा। ❑❑❑

मजदूर से मालिक

रामेश्वर टांटिया

बात पुरानी है, परन्तु बहुत पुरानी नहीं। यही कोई सौ वर्ष पहले की होगी। उस समय खत्री समाज का कलकत्ते के व्यवसाय-वाणिज्य में विशिष्ट स्थान था, बड़े-बड़े अंग्रेजी ऑफिसों की बेनियनशिप (एजेंसी) इन्हीं के पास थी। उस समय तक देश में कारखाने बहुत कम बन पाये थे, इसलिये अधिकांश आवश्यक वस्तुएँ विदेशों से – खासकर ब्रिटेन से आयात की जाती थी। १९१०-११ ई. तक भी पालकी-गाड़ी और फिटन-गाड़ियों का युग था। शौकीन रईसों के पास दो घोड़ों की गाड़ियाँ तो थी ही, परन्तु किसी-किसी के यहाँ ४ घोड़ों की गाड़ी भी थी, जिन्हें चौकड़ी कहा जाता था। कोचवान और साईस की पोशाकें बहुते ही आकर्षक होती थीं। उन वेलर घोड़ों की फिटनों के समान आज की बड़ी-से-बड़ी मोटर-कारों का भी कोई मुकाबला नहीं है।

सेठ निक्कामल घोड़ों की रास थामे अपनी सोने की नक्काशी की हुई सुन्दर फिटन में बैठे हुये, जिधर से भी निकलते, लोग घरों के भीतर से दौड़कर देखने के लिये बरामदों में आ जाते। कहते हैं कि उनके घोड़ों को बेहतरीन गुलाब और केवड़ा-जल से स्नान कराया जाता था और जिधर से उनकी गाड़ी निकलती, वहाँ सुमधुर सुगन्ध का समाँ बँध जाता था। ऐसे थे सेठ निक्कामल खत्री, कार-तारक-कम्पनी के बेनियन और सर्वेसर्वा। यद्यपि उनकी वार्षिक आय एक-डेड़ लाख से ज्यादा नहीं थी, चूँकि प्रथम महायुद्ध के पहले चीजें बहुत सस्ती थीं और दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं, अत: उन दिनों आज की तुलना में पाँच प्रतिशत की आय में भी लोग भलीभाँति रह सकते थे।

सेठ बहुत देर से सोकर उठते थे। उसके बाद ताश-शतरंज आदि से फुरसत मिलने पर जब वे खा-पीकर ऑफिस आते, तब तक तीन साढ़े तीन बज चुके होते। वे ऑफिस का काम स्वयं बहुत कम देखते थे। उनके नीचे कई दलाल और दूसरे काम करनेवाले थे। उनमें से गिरधारी लाल नामक एक १५ वर्ष का राजस्थानी लड़का भी था। उसका मासिक वेतन १४/- रुपये और काम था बाजार के पुर्जे चुका लाने का। इन चौदह रुपयों में ही गिरधारी को अपने छोटे भाई और विधवा माँ का खर्च भी चलाना पड़ता था। यद्यपि अभाववश उसकी स्कूल-कॉलेज की पढ़ाई तो नहीं हो सकी, थी, तो भी वह शुरू से ही परिश्रमी और होशियार होने के अलावा देखने में सुन्दर तथा सुशील भी था।

पुर्जे चुकाने के सिलसिले में उसे प्राय: नित्य ही दूकानदारों के पास जाना पड़ता था, इसलिये उसे विभिन्न प्रकार के कपड़ों के दाम भी याद हो गये थे। सेठजी के कुछ अपने बँधे हुए दूकानदार थे, जिन्हें किसी कारणवश बाजार से कुछ सस्ते दर पर कपड़े दिये जाते थे। एक दिन गिरधारी लाल ने बड़ी नम्रतापूर्वक किसी सौदे के बारे में सेठजी का ध्यान आकर्षित किया, जो बाजार-भाव से कुछ कम में हुआ था।

उसे इस बात पर बड़ा दु:ख हुआ कि सेठजी ने उसे शाबाशी देने की जगह धमकी दी और बताया कि उसका काम केवल पुर्जे चुका लाना है, उन सब बातों से उसका कोई प्रयोजन नहीं है।

ऑफिस के बड़े अंग्रेज साहब का ध्यान गिरधारी लाल के व्यवहार और परिश्रम की ओर गया। वे कभी-कभी उसको अपने कमरे में बुलाकर बातचीत करने लगे। उस समय के अधिकांश अंग्रेज-व्यापारी साधारण हिन्दी और बँगला बोल लेते थे। सेठ को यह मेल-जोल अच्छा नहीं लगा और उसने गिरधारी लाल को साहब से मिलने की मनाही कर दी।

गिरधारी स्वामीभक्त था और उसे साहब से कुछ आशा-भरोसे का सवाल नहीं था, अत: वह उनसे दूर रहने लगा।

कुछ दिनों बाद एक दिन साहब ने उसे बुलाकर इस प्रकार न मिलने का कारण पूछा। चूँकि वह किसी प्रकार भी मालिक की शिकायत नहीं करना चाहता था, इसलिये उसने सच्ची बात न बताकर दूसरे कामों में फँसे रहने का बहाना बना दिया। इतने में ही सेठ निक्कामल वहाँ आ गये। साहब को इस मामूली 'छोकरे' से हँस-हँस कर बातें करते देखकर उन्हें बहुत ही गुस्सा आया, परन्तु उस समय वे कुछ बोले नहीं। दूसरे दिन सेठजी ने गिरधारी लाल को घर पर बुलाकर सौ रुपये देते हुए नौकरी से अलग कर दिया और कहा कि आइंदा वह फिर ऑफिस की तरफ न आये।

यद्यपि उन दिनों सौ रुपये उस गरीब युवक के लिये बहुत बड़ी राशि थी, परन्तु उसने नम्रतापूर्वक वह रकम वापस कर दी, क्योंकि वह बिना कमाई के पैसे नहीं लेना चाहता था। उसने सेठ को विश्वास दिलाया कि मैंने आपका नमक खाया है, मुझसे आपका किसी भी प्रकार का अहित नहीं होगा।

घर लौटने पर माँ के पास जाकर उसे रुलाई आ गई। उसे नौकरी से क्यों हटाया गया, इसका वह कोई कारण नहीं बता सका। अपने पुत्र की ईमानदारी और मेहनत पर माँ को पूरा भरोसा था। फिर भी उसने यही सीख दी, "बेटा कुछ-न-कुछ तो गलती हुई ही है, नहीं तो तुम्हें मालिक क्यों छोड़ते? खैर अपने शरीर में उनका नमक है, इसलिये उनका नुकसान हो, ऐसा काम कभी मत करना।

सेठ निक्कामल का इतना दबदबा था कि उनके छोड़े हुए व्यक्ति को रखने का किसी को साहस नहीं होता था, इसलिये बेचारा युवक रोज इधर-उधर घूम-फिर कर वापस घर आ जाता। जो कुछ पास में था, वह समाप्त हो गया और अन्त में उनके परिवार को भूखे रहने की नौबत आ गई।

गिरधारी लाल को विश्वास था कि साहब के पास जाने पर कुछ-न-कुछ काम जरूर मिल जायेगा, परन्तु मालिक ने ऑफिस में जाने की मनाही कर दी थी!

दस-पन्द्रह दिन बाद साहब ने सेठजी से गिरधारी लाल के बारे में पूछा, तो उन्होंने बीमार होने का बहाना कर दिया।

कुछ दिन और बीत जाने पर एक दिन साहब ने अपने बड़े दरबान को बुलाकर कहा कि वे गिरधारी लाल को देखने उसके घर जाएँगे, वह शायद ज्यादा ही बीमार है। तब उन्हें दरबान से पता चला कि वह बीमार तो नहीं है, बल्कि उसे नौकरी से अलग कर दिया गया है।

उस दिन शनिवार था। इसलिये सेठजी ऑफिस नहीं आये थे, क्योंकि वे नियमानुसार शुक्रवार की शाम को चुने हुए मुसाहिबों के साथ अपने लिलुआ स्थित उद्यान-भवन में चले गये थे और सोमवार को सुबह लौटने वाले थे।

साहब ने गिरधारीलाल को बुलाकर पूछताछ की, तो उस स्वामीभक्त युवक ने सेठजी को बचाने हेतु कहा, "मुझसे एक बड़ी गलती हो गयी, इसलिये उन्होंने मुझे हटा दिया है।"

बात तो उसने कह दी परन्तु आधा-पेट भूखे छोटे भाई और माँ का ख्याल आने पर उसे बरबस रुलाई आ गई। प्रयत्न करने पर भी अपने आँसुओं को नहीं रोक सका।

साहब ने कहा, "तुम तो भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़ों के दाम और व्यापारियों को जानते हो, अगर तुम्हें कपड़े बेचने का काम दिया जाय, तो कर सकोगे?" उसने जवाब दिया, "यह तो मेरे श्रीमान मालिक का हक है। आज यद्यपि मैं उनके यहाँ नहीं हूँ, पर मैंने उनका नमक खाया है, इसलिये मैं यह काम नहीं कर सकता।"

उस फटेहाल लड़के की इस बात ने साहब को और भी प्रभावित किया और उसने हर प्रकार से उसे समझाया कि इससे सेठजी को किसी प्रकार की क्षति नहीं होगी। यह तो नया काम है। साहब ने उसे कुछ कपड़ों के नमूने देकर और कीमतें बताकर १००० गाँठ तक बेच देने का आदेश दिया।

बनिये का लड़का था, अत: व्यावसायिक बुद्धि उसमें सहज रूप से ही थी। वह उन दुकानदारों के पास गया, जो इस ऑफिस का माल लेने को तरसते रहते थे। साहब ने जो भाव बताये थे, उसने उससे प्रति गज एक-दो पैसे ऊँचे में सौदे पक्के कर दिये और खरीदारों को ऑफिस में लाकर साहब से मुलाकात भी करा दी।

सारे बाजार में चर्चा फैल गयी कि कार-तारक-कम्पनी का कपड़ा गिरधारी लाल ने बेचा है। निक्कामल के व्यापारी घोड़े-गाड़ियाँ लेकर लिलुआ के बगीचे में खबर देने पहुँचे।

सेठजी मुसाहिबों से घिरे हुए नाच-गाना देखने-सुनने में मस्त थे, परन्तु जब उन्हें इस बात का पता चला, तो उनका नशा हिरन हो गया। तबले की थाप और सारंगी की तान थम गई और वे तत्काल फिटन दौड़ाते हुए ऑफिस पहुँचे।

वे ऑफिस के पुराने बेनियन थे और उनकी इज्जत तथा धाक भी थी। शायद अपनी गलती मंजूर कर लेने पर साहब मान जाता, परन्तु क्रोध में मनुष्य की मति भ्रष्ट हो जाती है।

उन्होंने आते ही बड़े साहब पर रोब गाँठना शुरू किया, परन्तु साहब झगड़ा बढ़ाना नहीं चाहता था। उसने कहा – "एक महीने से यह माल बिक नहीं रहा था और जिन दामों में हम बेचना चाहते थे, उससे भी चार-पाँच पाई प्रति गज ऊँचा बिका है। गिरधारी लाल की तो केवल दलाली ही रहेगी, बाकी बेनियनशिप-कमीशन तो आपका ही है।"

साहब की नम्रता को कमजोरी समझकर सेठ निक्कामल ने विलायत के बड़े साहबों से अपनी मित्रता और प्रभाव की धौंस जताते हुये कहा कि दलाल चुनना मेरा काम है न कि ऑफिस का, इसलिये इन सौदों की जिम्मेदारी मैं नहीं लूँगा। गिरधारीलाल के पास तो एक कानी कौड़ी भी नहीं है कि वह आपको जमानत के रूप में दे सके। मैं अब आपके ऑफिस से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहता।" सेठ ने उसी समय बेनियनशिप से इस्तीफा लिखकर दे दिया।

सेठ को पूरा भरोसा था कि साहब दब जायेगा और मान-मनुहार करके इस्तीफा वापस कर देगा, परन्तु साहब ने जब टाइपिस्ट को बुलाकर इस्तीफे की मंजूरी लिखा दी, तो सेठ निक्कामल की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। क्योंकि उनकी शान-शौकत और मौज-बहार तो सब इस ऑफिस के भरोसे ही चल रही थी! उन्होंने साहब से गलती और गुस्से के लिये क्षमा माँगी। परन्तु बात बहुत आगे बढ़ चुकी थी और अब किसी प्रकार का समझौता सम्भव नहीं था।

कलकत्ते की ऑफिस से बिना रुपये जमा लिये ही गिरधारी के लिये बेनियनशिप की सिफारिश लन्दन ऑफिस को कर दी गयी। इधर सेठ निक्कामल ने भी पूरा जोर लगाया। अपने तीस वर्षों के सम्बन्ध और गिरधारी लाल की नाजुक आर्थिक स्थिति तथा अनुभवहीनता के बारे में बड़े-बड़े तार दिये। दूसरे व्यापारियों से भी तार दिलाये, परन्तु आखिरकार बात बड़े साहब की ही चली।

कल का १४/- महीने में पुर्जा चुकाने की नौकरी करने वाला, आज का सेठ गिरधारीलाल मटरूमल नाम से कार-

(शेष अगले पृष्ठ पर)
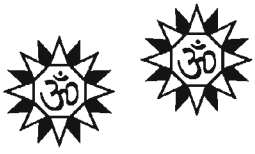
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१७)
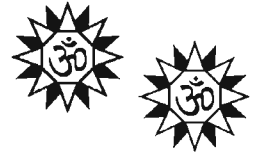
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात् ।।१८ ।।

– मन या चित्त दृश्य पदार्थ होने के कारण स्वप्रकाश नहीं है।

एक समये चोभयानवधारणम् ।।१९ ।।

– एक ही समय में दो वस्तुओं को नहीं समझ सकने के कारण मन स्वप्रकाश नहीं है।

व्याख्या – वस्तु एक होने पर भी मनुष्य के चित्त में वह सर्वदा प्रकाशित नहीं होती, इसलिये व्यक्ति-व्यक्ति के, एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के ज्ञान में इतना अन्तर होता है। यदि ऐसा हो, तो क्या जिसे कोई भी व्यक्ति नहीं जानता है, वह नहीं है? ऐसा नहीं है। समझ-बूझ, जानना-समझना चित्त के साथ संयुक्त होने पर होता है।

इस संसार के स्वामी चित् या चैतन्य अनन्त काल से एक टक, स्थिर होकर प्रकृति की ओर देख रहे हैं। इसलिये वे प्रकृति के सभी कार्यों को सर्वदा जान सकते हैं। हमलोगों का मन-बुद्धि चित् या पुरुष के दृश्य है। क्योंकि जब हमलोग इन्द्रियों की सहायता से किसी वस्तु को देखते हैं, तभी उसे समझ सकते हैं, किन्तु जब मन-बुद्धि किसी वस्तु को देखती है, तब वह वस्तु के साथ एक हो जाती है। वह इसे देख रही है, इसे समझ नहीं पाती। इसलिये पुरुष द्रष्टा है और बाकी सब कुछ केवल दृश्य है।

चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धि
बुद्धेरतिप्रसंगःस्मृतिसंकरश्च ।।२० ।।

– यदि ऐसी कल्पना की जाय कि दूसरा कोई चित्त पहले वाले चित्त को प्रकाशित करता है, तो ऐसी कल्पना कभी समाप्त नहीं होगी और स्मृति भी अटूट, निश्चल नहीं होगी।

चितेरप्रति-संक्रमायास्तदाकारापत्तौ
स्वबुद्धिसंवेदनम् ।।२१ ।

– चित् (पुरुष की शक्ति) अपरिणामी है। मन उस पुरुष का आकार ग्रहण कर ज्ञानमय हो जाता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थं ।।२२ ।।

– मन जब द्रष्टा और दृश्य दोनों वस्तुओं के द्वारा रंजित होता है, तभी वह सम्पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

व्याख्या – कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि जब चित्त वस्तु के आकार में आकारित होकर वस्तु का अनुभव करता है, तब दूसरा एक चित्त पहले वाले चित्त के पीछे रहकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव करता है। किन्तु यह सिद्धान्त बिल्कुल ही युक्तिहीन है। दूसरी बात है, चित्त की कल्पना करने पर उसकी क्रिया को देखने के लिये एक दूसरे चित्त की कल्पना करनी पड़ती है। इस प्रकार 'चित्त के ऊपर चित्त' की, अनेकों चित्तों की कल्पना करते-करते कल्पना कभी समाप्त नहीं होती। किन्तु एक पुरुष सभी चित्तों का द्रष्टा है, इस सत्यता को समझ लेने से इस समस्या का सम्पूर्ण समाधान हो जाता है।

चित्त जड़ होकर सत्ता की स्वतन्त्रता को कैसे जान सकेगा? चित्त पुरुष के समक्ष उपस्थित होकर अर्थात् पुरुष से सम्पर्क होने पर पुरुष के तेज से उज्जवल हो जाता है। उसके कारण उससे दृष्य वस्तु प्रतिबिम्बित होती है। तब

पिछले पृष्ठ का शेषांश

तारक-कम्पनी का बेनियन बन गया ! दोनों भाइयों ने ईमानदारी और कड़ी मेहनत से बहुत वर्षों तक काम किया। उनके समय में उस ऑफिस के काम की भी अच्छी तरक्की हुई। उनके अपने लाभ के सिवा व्यापारियों को भी उनके द्वारा अच्छा मुनाफा होता रहा।

धनाढ्य हो जाने के बाद भी उन्होंने अपने रहन-सहन में सादगी रखी और गरीबी के दिनों को नहीं भूले। जो भी कोई गरीब युवक उनके पास आया, उसे उन्होंने हर प्रकार की सहायता दी। अभी भी कुछ वयोवृद्ध लोग हैं, जिन्होंने गिरधारी लाल को देखा है। हरिसन-रोड में उनकी धर्मशाला है। राजस्थान में भी कुआँ, तालाब और धर्मशाला हैं। गरीब विद्यार्थियों के लिये अन्नक्षेत्र भी शायद कुछ समय पहले तक था। ऐसा कहा जाता है कि गरीब बालिकाओं की तो उन्होंने गुप्त रूप से दान देकर बीसियों शादियाँ कराई थी।

आज न तो गिरधारी लाल है और न कार-तारक-कम्पनी का अंग्रेज साहब। परन्तु उनके स्मारक और भलाई की बातें लोगों के मन में अभी तक बसी हुई हैं और दूसरे व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान करती रहती हैं। ❑❑❑

अज्ञानी लोग भ्रम से समझते हैं कि 'मैंने देखा', किन्तु ज्ञानी लोग देखते हैं कि चित्त में मात्र बाहरी वस्तु ही प्रतिबिम्बित हुई है। इसका रहस्य यह है कि माया के प्रभाव से जब इस सृष्टि का खेल, जगत की क्रीड़ा प्रारम्भ होती है, तब चैतन्य या पुरुष अपने सामने चित्त को या बुद्धि को देखते हैं और चित्त या बुद्धि के सम्मुख सृष्टि के उपस्थित होने के कारण वह चित्त में प्रतिबिम्बित होता है। पुरुष के सामने चित्त (बुद्धि) और चित्त (बुद्धि, मन) के सामने यह संसार उपस्थापित होने पर ही यह सृष्टि-लीला प्रारम्भ होती है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।।२३ ।।

– मन असंख्य वासनाओं के द्वारा रंजित होने पर भी संहत वस्तु (संयुक्त होकर कार्य करने वाला) होने के कारण, दूसरे के लिये अर्थात् पुरुष के लिये कार्य करता है।

व्याख्या – चित्त का कार्य देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु बहुत तरह के कार्यों में सर्वदा व्यस्त रहता है, मानो उसकी आवश्यकताओं की, इच्छाओं की कोई सीमा नहीं है। किन्तु यह चित्त या बुद्धि कितने भी कर्मों में क्यों न व्यस्त रहे, वह अकेला कुछ नहीं कर सकती। उसके पीछे अहंकार, मन और पूर्व संस्कार उसे कर्म में संलग्न रखते हैं। इससे यही सिद्धान्त निश्चित होता है कि पुरुष पीछे रहकर इस व्यवस्था के द्वारा बुद्धि से दास की तरह काम करा ले रहे हैं। बुद्धि स्वाधीन या स्वतन्त्र नहीं है।

विशेषदर्शिन आत्मभाव-भावना-विनिवृत्तिः ।।२४ ।।

– विवेकी व्यक्ति मन को पुरुष से पृथक समझते हैं।

व्याख्या – दीर्घकाल तक प्रकृति के इन लीलाओं का पर्यवेक्षण करते-करते मनुष्य की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण हो जाती है। इस संसार में हमेशा ही देखा जाता है कि जो जिस विषय को लेकर दीर्घकाल तक चिन्तन करता है, उस विषय में उसकी बुद्धि प्रखर हो जाती है। कृषि के कार्य हेतु हम किसान से ही परामर्श लेते हैं। किसी बुद्धिमान विद्वान व्यक्ति को यदि पशु चराना है, तो उसे पशु चरानेवाले चरवाहे से ही सीखकर उस कार्य में निपुण होना होगा। सृष्टि-तत्त्व के सम्बन्ध में जो दीर्घकाल तक अन्वेषण करता है, उसकी बुद्धि में विवेक-शक्ति प्रकाशित होती है। जब वह चरम-अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उसे 'विवेक ख्याति' कहते हैं। इस अवस्था में साधक जड़ और चैतन्य के भेद को सुस्पष्ट देखते हैं।

यह कार्य एक रासायनिक क्रिया के समान है। दूध से छाना को अलग करने के लिये हम लोग दूध में एसीड मिला देते हैं। ठीक उसी प्रकार हमलोगों की बोध-शक्ति में 'विवेक-ख्याति' को मिला देने पर पुरुष और प्रकृति या अविद्या या माया सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाते हैं, पूर्णतः उसकी पृथक सत्ता का बोध होने लगता है। तब यह स्पष्ट रूप से अनुभव होता है कि मैं मन, बुद्धि, अहंकार कुछ भी नहीं हूँ, इन सबसे सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हूँ। तब अपने विषय में अन्य कोई चिन्ता नहीं रहती।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भावं चित्तम् ।।२५ ।।

– उस समय चित्त या मन विवेकी व्यक्ति के समीप विवेक -प्रवण होकर कैवल्य की पूर्व-अवस्था को प्राप्त करता है।

व्याख्या – यह मानसिक अवस्था कैवल्य-प्राप्ति के ठीक पहले की है। उस समय बुद्धि विवेक-ख्याति में बिल्कुल डूब जाती है, निमग्न हो जाती है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।।२६ ।।

– उसके विघ्नस्वरूप बीच-बीच में दूसरे विचार उदित होते हैं। वे सभी विचार पूर्वसंस्कार से ही उत्पन्न होते हैं।

हानमेषां क्लेवदुक्तम् ।।२७ ।।

– अविद्या आदि क्लेशों को जिन उपायों से नष्ट किया जाता है,[१०] इन विघ्नों को भी उन्हीं उपायों के द्वारा नष्ट करना होगा।

व्याख्या – आश्चर्य का विषय यह है कि इस अवस्था में भी पूर्व-संस्कारों का हुंकार पाया जाता है। देवगण योगियों के मन को वापस घुमाने का भी प्रयास करते हैं, इसका उल्लेख पहले ही किया गया है।[११]

प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।।२८।।

– तत्त्वों के ज्ञान के पहले जो लोग ऐश्वर्य का त्याग करते हैं, विवेक-ज्ञान के प्राप्त होने पर उन्हें 'धर्ममेघ' नामक समाधि प्राप्त होती है।

ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः ।।२९ ।।

– 'धर्ममेघ' नामक समाधि के होने पर क्लेश और कर्मों की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् क्लेश और कर्म का नाश हो जाता है।

व्याख्या – इस अवस्था में जो लोग 'विवेक-ख्याति' को अटूट अचल रखकर अपनी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता का व्यवहार में प्रयोग न कर, मन-बुद्धि को 'निर्वाण' की ओर उन्मुख रख सकते हैं, उनके जीवन में माया-मोह, दुख-कष्ट, कुछ भी नहीं रहता है। वे लोग पवित्रता की मूर्ति के स्वरूप हो जाते हैं। यदि कोई उनके सान्निध्य में जाता है, तो उन लोगों की पवित्रता के प्रभाव से वह व्यक्ति भी अपने को पवित्र अनुभव करता है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।।३० ।।

– उस समय ज्ञान के सभी आवरण और अशुद्धि के नाश

हो जाने से ज्ञान अनन्त हो जाता है और ज्ञेय अल्प हो जाता है।

व्याख्या – श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है – "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।"[१२] श्रीरामकृष्ण ने चिदाकाश में अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि को देखा था। स्वामी तुरीयानन्द जी महाराज कहते थे – "जब ब्रह्मानुभूति होती है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह सृष्टि, यह संसार एक कोने में पड़ा हुआ है।

यह संसार माया का खेल है। प्रकृति या माया अपने शरीर को हिला-डुलाकर तीन गुणों (सत्त्व-रज-तम) की सहायता से इस संसार की सृष्टि की है। हम लोग उनके वैचित्र्य को देखकर ऐसे भूले हुये हैं कि इस सृष्टि-तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं समझ सकते हैं।

हमारे चारों ओर जल वाष्प बनकर आकाश में उठता रहता है तथा ऊपर आकाश में जमकर बादल के रूप में अभिव्यक्त होता है, बरसता है। बादल के शरीर में कितनी भंगिमा है! कितना प्रकाश-सौन्दर्य है! कितनी विद्युत-क्रीड़ा है! – उसे जिसने ध्यान से देखा है, वही उसे समझ सकता है। इस चकाचौंधपूर्ण बादल के खेल का मूल कारण केवल यह वाष्प, भाप ही है। इस संसार की सभी क्रियायें ही त्रिगुणात्मिका माया का विलक्षण खेल है। जिसे एकबार आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाती है, उसके लिये यह खेल इतना तुच्छ प्रतीत होता है कि, उसे इस खेल की ओर एकबार देखने की तनिक भी इच्छा नहीं होती। वे लोग जिस वस्तु का अपने अन्तकरण:, हृदय में बोध करते हैं, वह सभी प्रकार से सर्वश्रेष्ठ होती है। उसे 'ब्रह्म' कहते हैं; क्योंकि दूसरी कोई भी वस्तु उसकी अपेक्षा बड़ी नहीं होती है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ – बृहत्तम् अर्थात् सबसे विशाल, विराट होता है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।।३१ ।।

– गुणों के कार्य समाप्त हो जाने के बाद उनके परिणाम भी समाप्त हो जाते हैं।

क्षण-प्रतियोगी परिणामापरान्त निर्ग्राह्यः क्रमः ।।३२ ।।

– जो परिणाम क्षणभर हेतु अर्थात् एक मुहूर्त के लिये हैं और जिन्हें एक श्रेणी की अन्तिम सीमा में जाने पर ही या एक स्तर की चरम अवस्था को प्राप्त करने पर ही समझा जाता है, उसे 'क्रम' कहते हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।।३३ ।।

– जब पुरुष का गुणों से कोई प्रयोजन नहीं रहता, तब प्रतिलोम-क्रम से गुणों के लय को 'कैवल्य' कहते हैं, अथवा द्रष्टा (चित्-शक्ति या चैतन्य-शक्ति) का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना 'कैवल्य' है।

व्याख्या – योगी इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद पुनः प्रकृति की ओर नहीं देखते। इसलिये प्रकृति के सभी परिणाम, कार्य, जो इतने दिनों तक चले आ रहे थे, वे सभी बन्द हो जाते हैं। प्रकृति इतने दिनों तक क्रीड़ा करके पुरुष को अनेकों प्रकार के भोगों में भूलाकर रखी थी, अब भोग समाप्त होते ही, पुरुष अपने जिस मूल स्वरूप को भूल गया था, पुन: उस आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

उपसंहार – योगशास्त्र की मूल बातों को समझने में कठिनाई नहीं होती। थोड़े समय अभ्यास करने से ही सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। किन्तु सूत्र में जिन सूक्ष्म विषयों का पर्यवेक्षण, सम्यक् दर्शन और विचार है, वह बहुत दिनों तक चिन्तन नहीं करने से समझ में नहीं आता है। इन सबके सूक्ष्म विवेचन से समान्य लोग आकर्षित नहीं होते। विशेषकर पुरानी पद्धति से रचित सूत्रों को प्रारम्भिक शिक्षार्थियों के लिये समझना कठिन है।

सूत्रों के अनेकों भाष्य हैं, किन्तु साधारण लोगों के लिये उनका मर्म, उनका रहस्य समझना बहुत कठिन है। उसके आसपास स्वामी विवेकानन्दजी की प्रांजल व्याख्या भी साधारण लोगों के लिये अत्यन्त विस्तृत प्रतीत होती है।

वर्तमान में हमने जो व्याख्या की है, वह मुख्यत: स्वामी विवेकानन्दजी की व्याख्या पर आधारित है। लेकिन इन व्याख्याओं में कठिन, जटिल सूत्रों के सार-मर्म का केवल उल्लेख किया गया है। कई कारणों से कहीं-कहीं नई प्रकार की व्याख्या की गई है। स्वामीजी की असाधारण प्रांजल और प्रासंगिक व्याख्या के साथ पढ़ने से समझने में सुविधा होगी।

श्रीरामकृष्ण के जीवन में ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति इन चारों का पूर्ण समन्वय है, इसे स्वामीजी ने कहा है। किसी को संशय हो सकता है कि राजयोग में तो केवल मन को एकाग्र करने की बात है, भक्ति की बात कहाँ है? यदि कोई व्यक्ति किसी विषय-वस्तु पर अपने को एकाग्र करने का प्रयास करता है, तो उससे यह समझना होगा कि वह व्यक्ति उस विषय-वस्तु से अत्यधिक प्रेम करता है। इसीलिये तो सद्गुरु से अपने इष्ट को माँग लेना पड़ता है। हमारे देश में गुरु शिष्य को स्वतन्त्र, स्वेच्छानुसार इष्टमन्त्र प्रदान करते हैं।

चतुर्थ अध्याय कैवल्य पाद समाप्त

---

१०. देखें - साधनपाद सूत्र - १०, ११

११. देखें - विभूतिपाद, सूत्र-५२ और संश्लिष्ट पाद टीका

१२. गीता १०/४२ में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि हमारी विभूतियाँ अनन्त हैं। उन्हें जानने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है। तुम मात्र इतना ही जान लो कि मैं अपने एक अंश से ही इस सम्पूर्ण जगत में व्याप्त हूँ।

❖ (समाप्त) ❖
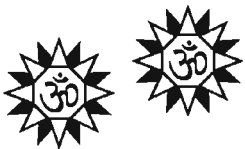
स्वामीजी के साथ दो-चार दिन
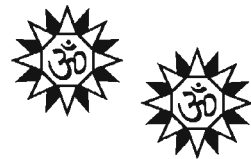
हरिपद मित्र

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

❖ (गतांक से आगे) ❖

एक दिन मैंने पूछा, ''स्वामीजी, चोरी करना पाप क्यों मानते हैं? सभी धर्म चोरी करने से मना क्यों करते हैं? मुझे तो लगता है कि 'यह हमारा है', 'वह दूसरों का है' आदि सोचना कल्पना मात्र है। यदि मेरा कोई प्रिय मित्र, मुझे बिना बताये मेरी किसी चीज का उपयोग करता है, तो मैं उसे चोरी नहीं कहता। फिर, यदि पशु-पक्षी हमारी कोई चीज नष्ट कर देते हैं, तो भी हम उसे चोरी क्यों नहीं कहते?''

स्वामीजी बोले, ''यह सत्य है कि ऐसी कोई भी वस्तु या कार्य नहीं है, जिसे सभी अवस्थाओं में बुरा या पाप कहा जा सके। फिर, परिस्थिति-भेद से हर वस्तु बुरी और हर कार्य पाप कहला सकता है। तथापि जिस कर्म से दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट हो तथा जिससे शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक – किसी भी प्रकार की दुर्बलता आये, उसे नहीं करना चाहिये; वही पाप है और उसके विपरीत जो कर्म है, वही पुण्य है। अच्छा, कोई व्यक्ति यदि तुम्हारी कोई चीज चुरा ले, तो तुम्हें दु:ख होता है या नहीं? अपने ही समान सारे जगत् को भी समझना। इस दो दिन के जगत् में किसी छोटी-सी चीज के लिये यदि तुम किसी प्राणी को कष्ट दे सकते हो, तो फिर क्रमश: भविष्य में तुम कौन-सा बुरा काम नहीं करोगे? फिर, पाप-पुण्य की धारणा न रहे, तो समाज भी नहीं चलेगा। समाज में रहने के लिये उसके नियमों का पालन आवश्यक है। जंगल में जाकर यदि नंगे होकर नाचो, तो भी कोई क्षति नहीं होगी, कोई तुम्हें कुछ न कहेगा; परन्तु नगर में वैसा आचरण करने पर तुम्हें पुलिस से पकड़वा कर किसी निर्जन स्थान में बन्द रखना उचित होगा।''

स्वामीजी कई बार हास-परिहास के माध्यम से विशेष शिक्षा दिया करते थे। वे गुरु थे, तथापि उनके पास बैठना शिक्षक के पास बैठने जैसा नहीं था। सम्भव है कि अभी खूब रंग-रस चल रहा है; बालक के समान हँसते-हँसते हँसी के बहाने कितनी ही बातें कहे जा रहे हैं, सभी लोगों को हँसा रहे हैं; और दूसरे ही क्षण वे ऐसे गम्भीर होकर जटिल प्रश्नों की व्याख्या करना शुरू कर देते कि उपस्थित सभी लोग विस्मित होकर सोचने लगते – ''इनके भीतर इतनी शक्ति ! अभी तो देख रहे थे कि ये हमारे ही समान एक व्यक्ति हैं !''

लोग सर्वदा उनके पास शिक्षा लेने के लिए आते। उनका द्वार सभी समय खुला रहता। दर्शनार्थियों में से अनेक भिन्न-भिन्न उद्देश्य से भी आते – कोई उनकी परीक्षा लेने आता, तो कोई मजेदार बातें सुनने के लिये, कोई इसलिये भी उनके पास आता कि वहाँ बड़े-बड़े धनी-मानी लोगों से परिचय हो सकेगा, फिर कोई संसार-ताप से दग्ध होकर उनके पास दो घड़ी शीतल होने और ज्ञान तथा धर्मलाभ करने आता। परन्तु उनमें ऐसी अद्भुत क्षमता थी कि कोई किसी भाव से भी क्यों न आये, वे उसे तत्काल समझ जाते थे और उसके साथ उसी तरह का व्यवहार करते थे। उनकी मर्मभेदी दृष्टि से किसी के लिए बचना या कुछ छिपाकर रखना असम्भव था। एक बार एक प्रतिष्ठित धनी व्यक्ति का इकलौता पुत्र विश्वविद्यालय की परीक्षा से बचने के लिए बारम्बार स्वामीजी के पास आने लगा और साधु बनने की आकांक्षा व्यक्त करने लगा। वह मेरे एक मित्र का लड़का था। मैंने स्वामीजी से पूछा, ''यह लड़का किस मतलब से इतना अधिक आता-जाता है? क्या आप उसे संन्यासी होने का उपदेश देंगे? उसका बाप मेरा मित्र है।''

स्वामीजी ने कहा, ''वह केवल परीक्षा के भय से साधु होना चाहता है। मैंने उससे कहा है कि वह एम. ए. पास कर लेने के बाद साधु होने के लिये मेरे पास आये; साधु होने की अपेक्षा एम. ए. पास करना कहीं सरल है।''

स्वामीजी जितने भी दिन मेरे घर में रहे, प्रतिदिन संध्या के समय उनकी बातें सुनने के लिये इतनी अधिक संख्या में लोग आते, मानो कोई सभा हो रही हो। उसी समय एक दिन चन्दन-वृक्ष के नीचे तकिये के सहारे बैठे हुए उन्होंने जो बातें कही थीं, उन्हें मैं आजन्म नहीं भूल सकूँगा। उस प्रसंग

को उठाने के पूर्व बहुत-सी बातें कहनी होंगी, इसलिये उसे आगे के लिये रख छोड़ना ही उचित होगा।

इस समय मैं अपनी एक अन्य बात कहूँगा। कुछ समय पूर्व से ही मेरी पत्नी किसी गुरु से मंत्रदीक्षा लेने की इच्छुक थी। मुझे इसमें कोई आपत्ति न थी, परन्तु मैंने उससे कह दिया था, "ऐसे व्यक्ति को गुरु बनाना, जिनके प्रति मैं भी भक्ति रख सकूँ। गुरु के घर आने पर यदि मेरे मन में अच्छे भाव का उदय न हो, तो तुम्हारा कोई उपकार नहीं होगा। यदि गुरु के रूप में कोई सत्पुरुष मिले, तो हम दोनों साथ-साथ मंत्र लेंगे, अन्यथा नहीं।" उसने भी सहमति व्यक्त की। स्वामीजी के आने पर मैंने उससे पूछा, "ये संन्यासी यदि तुम्हारे गुरु हों, तो क्या तुम शिष्या होने को राजी हो?" उसने आग्रहपूर्वक कहा, "क्या वे गुरु बनेंगे? यदि ऐसा हो, तब तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगी।"

एक दिन मैंने डरते-डरते उनसे पूछा, "स्वामीजी, क्या आप मेरी एक प्रार्थना पूरी करेंगे?" स्वामीजी द्वारा उसे प्रकट करने का आदेश देने पर मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे हम दोनों को दीक्षा प्रदान करें।

वे बोले, "गृहस्थ के लिये गृहस्थ गुरु ही ठीक है। गुरु होना बड़ा कठिन है, शिष्य का सारा भार ग्रहण करना पड़ता है, दीक्षा के पूर्व शिष्य के साथ कम-से-कम तीन बार भेंट होना आवश्यक है।" इस तरह की बातें कहकर स्वामीजी ने मुझे टालने का प्रयास किया। परन्तु जब उन्होंने देखा कि मैं किसी भी हालत में माननेवाला नहीं हूँ, तो आखिरकार उन्हें स्वीकृति देनी ही पड़ी।

२५ अक्तूबर को उन्होंने हम दोनों को दीक्षा दी। इस समय मेरी प्रबल इच्छा हुई कि स्वामीजी का फोटो खिंचवाऊँ। पर इसके लिए वे शीघ्र राजी नहीं हुए। अन्त में बहुत वाद-विवाद के बाद, मेरा तीव्र आग्रह देखकर २६ तारीख को वे फोटो खिंचवाने के लिए सहमत हुए। फोटो खींचा गया। इसके पूर्व अन्यत्र किसी के बड़े आग्रह के बावजूद स्वामीजी ने फोटो नहीं खिंचवाया था, इसलिए उन्होंने फोटो की दो प्रतियाँ उस व्यक्ति को भी भेज देने को कहा। स्वामीजी के इस आदेश को मैंने बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया।

एक दिन स्वामीजी बोले, "जंगल में तम्बू लगवाकर कुछ दिन तुम्हारे साथ रहने की इच्छा है। लेकिन शिकागो में धर्मसभा होनेवाली है, यदि सुविधा हुई तो वहाँ जाऊँगा।" मेरे द्वारा सूची बनाकर चन्दा एकत्र करने का प्रस्ताव रखने पर उन्होंने न जाने क्या सोचकर उसे स्वीकार नहीं किया। रुपये-पैसे न छूना या ग्रहण न करना – उन दिनों स्वामीजी का व्रत ही था। मेरे बहुत अनुरोध पर वे मरहठी चप्पल के बदले एक जोड़ी जूता और बेत की एक छड़ी स्वीकार करने को राजी हुए। इसके पहले कोल्हापुर की महारानी ने उनसे बहुत आग्रह किया था कि वे कुछ ग्रहण करें, परन्तु उनके राजी न होने पर उन्होंने आखिरकार स्वामीजी के लिये दो गेरुए वस्त्र भेज दिये। स्वामीजी ने उन वस्त्रों को स्वीकार किया और जो वस्त्र पहन रखे थे, उनका वहीं परित्याग करते हुए बोले, "संन्यासी के पास बोझ जितना कम हो, उतना ही अच्छा!"

इसके पहले मैंने गीता पढ़ने की कई बार चेष्टा की थी; पर समझ न पाने के कारण मैंने सोच लिया था कि उसमें समझने लायक कोई खास बात नहीं है और उसे पढ़ना ही छोड़ दिया। एक दिन जब स्वामीजी गीता लेकर हम लोगों को समझाने लगे, तब पता चला कि वह कैसा अद्भुत ग्रन्थ है! एक ओर गीता के मर्म को समझना जैसा मैंने उनसे सीखा, वैसे ही दूसरी ओर जूल्स बर्न के वैज्ञानिक उपन्यास एवं कार्लाइल का 'सार्तोर रिजार्तस' पढ़ना भी उन्हीं से सीखा।

उन दिनों मैं स्वास्थ्य के लिए बहुत-सी औषधियों का सेवन किया करता था। इस बात का पता चलने पर एक दिन वे बोले, "जब देखो कि किसी रोग ने अत्यधिक प्रबल होकर बिस्तर पकड़ने को मजबूर कर दिया है, उठने की शक्ति नहीं रही, तभी औषधि का सेवन करना, अन्यथा नहीं। स्नायुओं की दुर्बलता आदि रोगों में से तो ९० प्रतिशत काल्पनिक हैं। इन सब रोगों से डॉक्टर लोग जितने लोगों को बचाते हैं, उससे अधिक को तो मार डालते हैं। फिर इस प्रकार सर्वदा 'रोग, रोग' करते रहने से क्या होगा? जितने दिन जियो, आनन्द से रहो। पर जिस आनन्द से एक बार कष्ट हो चुका है, उसके पीछे फिर कभी न दौड़ना। हम लोगों के समान किसी एक के मर जाने से पृथ्वी अपने केन्द्र से नहीं टल जायेगी और न ही जगत् के किसी विषय में किसी तरह की बाधा ही आयेगी।"

इस समय कुछ कारणों से अपने ऊपर के अफसरों के साथ मेरी बनती नहीं थी। उनके जरा-सा कुछ कहने से ही मेरा सिर गरम हो जाता था और इस प्रकार इस अच्छी नौकरी से भी मैं एक दिन के लिए भी सुखी न हुआ। स्वामीजी से जब मैंने ये बातें कहीं, तो वे बोले, "नौकरी किस लिये करते हो? वेतन के लिये ही न? वेतन तो प्रतिमाह नियमित रूप से मिल रहा है, तो फिर मन में कष्ट क्यों पा रहे हो? और जब चाहो, नौकरी को छोड़ भी सकते हो, किसी ने तुम्हें बाँध करके तो रखा नहीं है। अत: 'भयंकर बन्धन में पड़ा हूँ' – यह सोचकर इस दु:खमय संसार में और भी दु:ख क्यों बढ़ाते हो? एक बात और सोचो – जिसके लिए तुम वेतन पाते हो, दफ्तर के उन कार्यों को पूरा करने के अतिरिक्त तुमने अपने ऊपरवाले साहबों को सन्तुष्ट करने के लिए भी कभी कुछ किया है? कभी तो तुमने उसके लिए चेष्टा नहीं की, फिर भी वे लोग तुमसे सन्तुष्ट नहीं हैं – ऐसा सोचकर उनके ऊपर खीझे हुए हो! क्या यह बुद्धिमानों का काम है? यह

जान लो कि हम लोग दूसरों के प्रति हृदय में जैसा भाव रखते हैं, वही कार्य में व्यक्त होता है; और व्यक्त न हो, तो भी उन लोगों के भीतर भी हमारे प्रति ठीक वैसे ही भाव का उदय होता है। हम अपने मन के अनुरूप ही जगत् को देखते हैं – हमारे भीतर जैसा है, वैसा ही जगत् में भी होता देखते हैं। 'आप भला तो जग भला' – यह उक्ति कितनी सत्य है, इसे कोई नहीं जानता। **आज से किसी की बुराई देखना एकदम छोड़ देने की चेष्टा करो। देखोगे, तुम जितना ही वैसा कर सकोगे, उतना ही उनके भीतर का भाव और उनके कार्य भी परिवर्तित हो जायेंगे।**''

बस, उसी दिन से औषधि-सेवन का मेरा पागलपन दूर हो गया और दूसरों के दोष ढूँढ़ने की चेष्टा त्याग देने के फलस्वरूप क्रमशः मेरे जीवन का एक नया पृष्ठ खुल गया।

एक बार स्वामीजी के सामने प्रश्न किया गया, ''अच्छा क्या है और बुरा क्या है?'' इस पर वे बोले, ''जो लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक है, वही अच्छा है और जो उसमें बाधक है, वही बुरा है। स्थान की ऊँचाई-नीचाई के विचार के समान ही हम भलाई तथा बुराई का विचार कर सकते हैं। हम जितना ही ऊपर उठेंगे, उतना ही दोनों एक होते जाएँगे। कहते हैं कि चन्द्रमा पर पहाड़ भी है और समतल भी, परन्तु हम लोग सब एक जैसा ही देखते हैं, वैसे ही।''

स्वामीजी में ऐसी असाधारण शक्ति थी कि कोई कुछ भी क्यों न पूछे, उनके भीतर से तत्काल उसका ऐसा सटीक उत्तर आता कि मन का सन्देह पूरी तौर से दूर हो जाता।

एक अन्य दिन – स्वामीजी ने समाचार-पत्र में पढ़ा कि अनाहार के कारण कोलकाता में एक व्यक्ति मर गया है। समाचार पढ़कर स्वामीजी इतने दुखी हुए कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। वे बारम्बार कहने लगे, ''अब तो देश गया।'' कारण पूछने पर बोले, ''देखते नहीं, दूसरे देशों में निर्धनों की सहायता के लिए 'पूअर हाउस', 'वर्क हाउस', 'चैरिटी फण्ड' आदि संस्थाओं के बावजूद हर वर्ष सैकड़ों लोग अनाहार की ज्वाला में समाप्त हो जाते हैं – अखबारों में ऐसा देखने में आता है। परन्तु हमारे देश में एक मुट्ठी भिक्षा की प्रथा होने के कारण लोगों का कभी अनाहार से मरना नहीं सुना गया। मैंने आज पहली बार अखबार में पढ़ा कि दुर्भिक्ष न होते हुए भी कोलकाता जैसे शहर में अन्न के अभाव में कोई मरा।''

अंग्रेजी शिक्षा की कृपा से मैं भिखारियों को दो-चार पैसे देना अपव्यय समझता था। सोचता था – इस प्रकार जो कुछ थोड़ा-सा दान किया जाता है, उससे उनका कोई उपकार तो होता नहीं; अपितु बिना परिश्रम के पैसा पाकर उसे शराब, गाँजे आदि में खर्च कर वे और भी पतित हो जाते हैं। इससे लाभ इतना ही है कि दाता का खर्च थोड़ा बढ़ जाता है। अतः मैं सोचता था कि अनेक लोगों को थोड़ा-थोड़ा देने की अपेक्षा एक ही व्यक्ति को ठीक से देना अच्छा है।

स्वामीजी से पूछने पर वे बोले, ''भिखारी के आने पर यदि शक्ति हो, तो कुछ देना ही अच्छा है। दोगे तो बस दो-एक पैसा, फिर उसके लिए वह किसमें खर्च करेगा, सद्व्यय होगा या अपव्यय – ये सब बातें लेकर माथापच्ची करने की क्या जरूरत? और यदि सचमुच ही वह उस पैसे को गाँजे में उड़ा देता हो, तो भी उसे देने से समाज की हानि नहीं, बल्कि लाभ ही है। क्योंकि तुम्हारे समान लोग यदि दया करके उसे कुछ न दें, तो वह तुम लोगों से चोरी करके लेगा। वैसा न करके वह, जो दो पैसे माँगकर, गाँजा पीकर, चुपचाप बैठा रहता है, उसमें क्या तुम लोगों का लाभ नहीं है? अतः इस प्रकार के दान में भी लोगों की भलाई ही है, हानि नहीं।''

मैंने स्वामीजी को शुरू से ही बाल-विवाह के बिल्कुल विरुद्ध देखा है। वे सर्वदा सभी को, विशेष कर बालकों को, हिम्मत बाँधकर समाज के इस कलंक के विरोध में खड़े होने के लिए तथा उद्योगी और सन्तुष्ट चित्त होने के लिए उपदेश देते थे। स्वदेश के प्रति इस प्रकार अनुराग भी मैंने और किसी में नहीं देखा। स्वामीजी के पाश्चात्य देशों से लौटने के बाद जिन लोगों ने उनका पहली बार दर्शन किया है, वे नहीं जानते कि वहाँ जाने के पूर्व उन्होंने कितने काल तक संन्यास-जीवन के कठोर नियमों का पालन करते हुए, रुपये-पैसों का स्पर्श तक न करते हुए भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण किया था। किसी व्यक्ति ने जब एक बार कहा कि उनके समान शक्तिमान व्यक्ति के लिये नियमों के इतने बन्धन की कोई आवश्यकता नहीं, तो इस पर वे बोले –

''देखो, मन बड़ा पागल है, घोर मतवाला है, कभी चुप नहीं बैठता, जरा-सा मौका पाते ही अपने रास्ते खींच ले जाता है। इसीलिये सभी को सुनिश्चित नियमों के अनुसार ही रहना उचित है। संन्यासी को भी उसी मन को अधिकार में रखने के लिये नियमानुसार चलना पड़ता है। सभी लोग सोचते हैं कि मन पर उनका पूरा नियंत्रण है, इसलिये स्वेच्छापूर्वक उसे थोड़ी छूट दे देते हैं। परन्तु मन पर किसका कितना अधिकार है, यह थोड़ा-सा ध्यान में बैठते ही समझ में आ जायेगा। यदि कोई एक विषय पर चिन्तन करने की इच्छा लेकर बैठे, तो दस मिनट भी उस विषय पर मन को लगातार एकाग्र नहीं रख सकता। हर कोई सोचता है कि वह पत्नी के अधीन नहीं है; वह तो केवल प्रेम के कारण ही पत्नी को अधिकार चलाने देता है। मन मेरे वश में है – यह सोचना भी उसी प्रकार है। कभी मन पर विश्वास करके निश्चिन्त मत रहना।''

एक दिन बातचीत के दौरान मैंने कहा, ''स्वामीजी, देखता हूँ कि धर्म को ठीक-ठीक समझने के लिये बहुत अध्ययन करने की आवश्यकता है।''

वे बोले, "स्वयं के लिये धर्म को समझने के लिये पढ़ने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु दूसरों को समझाने के लिये उसकी विशेष आवश्यकता है। परमहंस रामकृष्णदेव 'रामकेष्ट' के रूप में हस्ताक्षर करते थे, परन्तु धर्म का सार-तत्त्व उनके जैसा भला कौन समझ सका था!"

मेरा विश्वास था कि साधु-संन्यासियों के लिये स्थूलकाय तथा सदा-सन्तुष्ट-चित्त होना असम्भव है। एक दिन जब मैंने हँसते हुए उनके प्रति कटाक्ष करते हुए यह बात कही, तो वे भी विनोदपूर्वक बोले, "यही तो मेरा 'अकाल-बीमा-कोष' है– यदि पाँच-सात दिन खाने को न भी मिले, तो मेरी चर्बी मुझे जीवित रखेगी। तुम लोग तो एक दिन खाने को न मिले, तो सब कुछ अन्धकारमय देखने लगते हो। जो धर्म मनुष्य को सुखी नहीं बनाता, वह सच्चा धर्म नहीं; उसे तो अजीर्णता-जनित कोई रोग ही समझो।"

स्वामीजी संगीत-विद्या में विशेष पारंगत थे। एक दिन उन्होंने एक गीत गाना शुरू भी किया था, पर मैं तो 'संगीत में औरंगजेब' था; फिर मुझे सुनने का अवसर भी कहाँ था? उनके वार्तालाप ने ही हम लोगों को मोहित कर लिया था।

आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के सभी विभागों – भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, मिश्र-गणित आदि पर उनका विशेष अधिकार था और उन विषयों से सम्बद्ध सभी प्रश्नों को वे बड़ी सरल भाषा में दो-चार बातों में ही समझा देते। फिर, पाश्चात्य विज्ञान की सहायता एवं दृष्टान्त से धर्म-विषयक तथ्यों को विशद रूप से समझाने तथा यह दिखाने में भी उनकी क्षमता अद्वितीय थी कि धर्म और विज्ञान का लक्ष्य एक ही है, दोनों की गति एक ही दिशा में है।

लाल मिर्च, काली मिर्च आदि तीखे पदार्थ उन्हें विशेष प्रिय थे। एक दिन इसका कारण पूछने पर उन्होंने बताया, "संन्यासियों को पर्यटन के दौरान विभिन्न स्थानों के अनेक प्रकार का दूषित जल भी पीना पड़ता है। इससे स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इस दोष के निवारणार्थ उनमें से अनेक लोग गाँजा, चरस आदि मादक पदार्थों का उपयोग करते हैं। मैं भी इसी कारण इतनी मिर्च खाता हूँ।"

खेतड़ी नरेश, कोल्हापुर के छत्रपति एवं दक्षिण के अनेक राजा उनके प्रति विशेष भक्ति रखते थे। स्वामीजी का भी उन पर बड़ा प्रेमभाव था। यह बात बहुतों की समझ में नहीं आती थी कि असाधारण त्यागी होकर भी वे राजों-महाराजों के साथ इतनी घनिष्ठता क्यों रखते थे। कोई-कोई अबोध व्यक्ति इस बात को लेकर उन पर कटाक्ष भी कर बैठता था।

एक दिन इसका कारण पूछने पर उन्होंने बताया, "जरा सोचकर तो देखो, हजारों गरीब लोगों को उपदेश देने और सत्कार्य में प्रेरित कराने से जो कार्य होगा, उसकी अपेक्षा एक राजा को इस दिशा में ला सकने पर कितना अधिक कार्य हो जायेगा। निर्धन प्रजा में इच्छा हो तो भी उसके पास सत्कार्य करने की क्षमता कहाँ है? परन्तु राजा के हाथ में सहस्रों प्रजाओं के मंगल-विधान की क्षमता पहले से ही है, केवल इसे करने की इच्छा भर नहीं है। वह इच्छा यदि उनके भीतर जागृत कर सकूँ, तो ऐसा होने पर उनके स्वयं के साथ साथ उनके अधीन रहनेवाली सारी प्रजा की दशा बदल सकती है और इस प्रकार जगत् का कितना अधिक कल्याण हो सकता है।"

धर्म वाद-विवाद का नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है – इस सत्य को समझाने के लिये वे बातों-बातों में कहते, "मिठाई की परीक्षा उसके खाने में ही है। अनुभव करो, अन्यथा कुछ भी नहीं समझ सकोगे। ढोंगी संन्यासियों के प्रति उनकी बड़ी नाराजगी थी। वे कहते, "पहले घर में रहकर मन पर अधिकार कर लेने के बाद ही बाहर निकलना अच्छा है; नहीं तो नवानुराग के घट जाने पर प्राय: गाँजाखोरों की टोली से जुड़ जाना पड़ता है।" मैं बोला, "लेकिन घर में रहकर ऐसा होना अत्यन्त कठिन है; सभी के प्रति समान दृष्टि, राग-द्वेष का त्याग आदि जिन बातों को आप धर्मलाभ में प्रधान सहायक बताते हैं, यदि मैं उनका आज से पालन करने लगूँ, तो कल से मेरे नौकर-चाकर तथा अधीनस्थ कर्मचारी और सगे-सम्बन्धी मुझे क्षण भर के लिये भी चैन से नहीं रहने देंगे।" इसके उत्तर में वे श्रीरामकृष्ण की सर्प तथा संन्यासी की कथा सुनाकर बोले, "फुफकारना कभी न छोड़ना। कर्तव्य पालन कर रहे हो, यह सोचकर सभी कर्म सम्पन्न करना। कोई दोष करे, तो दण्ड देना; परन्तु दण्ड देते समय कभी क्रोध मत करना।"

इसके बाद वे पूर्वोक्त प्रसंग में बोले, "एक बार मैं एक तीर्थ-स्थान में एक पुलिस इंस्पेक्टर का अतिथि हुआ था। उस व्यक्ति में काफी धर्मज्ञान तथा भक्ति थी। उसका वेतन था सवा सौ रुपये, परन्तु देखा कि उसके घर का खर्च दो-तीन सौ रुपयों से कम न होगा। अधिक परिचय हो जाने के बाद मैंने पूछा, "आपका खर्च तो आय की अपेक्षा अधिक है – चलता कैसे है?" वे थोड़ा-सा हँसकर बोले, "आप लोग ही चलाते हैं। इस तीर्थस्थान में जो साधु-संन्यासी आते हैं, उनमें से सभी आपके समान नहीं होते। सन्देह होने पर, उनके पास क्या-क्या है, यह जानने के लिये मैं तलाशी लेता हूँ। कइयों के पास से काफी रुपये-पैसे निकलते हैं। जिन पर चोर होने का सन्देह करता हूँ, वे रुपये-पैसे फेंककर भाग जाते हैं और मैं वह सब हजम कर जाता हूँ। दूसरा कोई घूस-घास नहीं लेता।"

❖ **(क्रमशः)** ❖

भागवत का रहस्य

स्वामी आत्मानन्द

(१९८६ ई. में गीता-प्रचार मण्डल, जोधपुर के निमंत्रण पर वहाँ के गीता-भवन के परिसर में शरद पूर्णिमा के दिन रात ८ बजे 'श्रीमद् भागवत-रहस्य' पर स्वामीजी ने जो सारगर्भित प्रवचन दिया था, उसी का 'केन्द्र-भारती' अक्टूबर, २००१ अंक से पुनर्मुद्रण। – सं.)

आज शरद्-पूर्णिमा है। शरद्-पूर्णिमा की रात्रि को भगवान श्रीकृष्ण ने रासलीला का अयोजन किया था और उस रासलीला को ही केन्द्र बनाकर के भागवत का निर्माण किया है। अत: रासलीला के तत्त्व को ही मैं भागवत का तत्त्व मानता हूँ। भागवत रहस्य की रचना भगवान वेदव्यास ने की है। कहा गया है – **विद्यावतां भागवते परीक्षा**। विद्वान व्यक्ति की परीक्षा तो भागवत की कसौटी पर होती है।

इसका तात्पर्य है कि भागवत में श्रृंगार-रस प्रधान दिखाई देता है। इस श्रृंगार-रस में से जाकर भगवान को कैसे पाना, यह बहुत कठिन बात है। यह जो श्रृंगार वर्णन दिखाई दे रहा है, जो उसके भीतर से भगवान कृष्ण को पकड़ सकता है, वही ठीक-ठीक भागवत को पढ़नेवाला है, उसी ने भागवत का ठीक-ठीक अध्ययन किया है और उसी ने ही भागवत को ठीक-ठीक समझा है।

यह भी एक बड़ी विचित्र बात है कि भागवत की रचना तो वेद व्यास ने की, परन्तु मंच पर बैठाया अपने उस परमहंस बेटे को, जिसे संसार का किसी प्रकार का ज्ञान नहीं है। शुकदेव ज्ञानी थे, दिगम्बर रहा करते थे। उससे यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि जो परमहंस हैं, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर पूरी तरह से विजय पा ली है, ऐसा व्यक्ति ही यह कथा कहने का अधिकारी है।

गोपियाँ तो पर-नारी हैं। पर-नारी के साथ धर्म के मूर्तिमान अवतार श्रीकृष्ण, इस प्रकार की लीलाएँ और चेष्टायें कैसे कर सकते हैं? तब इस पर भगवान शुकदेव ने जो उत्तर दिया है, वह उत्तर हमारे लिए बहुत ही मननीय है। वे कहते हैं – "जो अनीश्वर है, अर्थात् जिस व्यक्ति ने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह मन से भी भागवत की लीलाओं का चिन्तन न करे।" हम तो अनीश्वर हैं, हम अपनी इन्द्रियों पर विजय पाने में अभी समर्थ नहीं हुए हैं, तो भागवत को हम यह मानकर पढ़ें कि इसको पढ़ने से हमारे भीतर विवेक का संचार होगा, भक्ति का संचार होगा और वैराग्य का संचार होगा। हमारे भीतर में जो काम-वासनाएँ हैं, उनको दूर करने में हमें सफलता मिलेगी। भगवान श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ रासलीला करने का आध्यात्मिक तात्पर्य है – यह समझकर यह महत् भावना अपने भीतर दृढ़ करके यदि भागवत को पढ़ेंगे, तो इससे लाभ होगा।

जब हम भागवत का माहात्म्य हम पढ़ते हैं, तो प्रारम्भ में एक युवती दो बूढ़े पुरुषों की कथा आती है। एक युवती है, दो बूढ़े पुरुष। दोनों बूढ़े पुरुषों के पास बैठकर वह युवती रो रही है। देवर्षि नारद उस स्थान से गुजरते हैं। उन्हें यह देखकर बड़ा अचम्भा लगता है। देवर्षि पूछते हैं – "भद्रे, तुम कौन हो? और ये दो पुरुष तुम्हारे कौन हैं? तुम किसलिए रो रही हो?" तब उस युवती ने कहा – "मैं भक्ति हूँ, ये जो दो वृद्ध दिखाई दे रहे हैं, मेरे पुत्र हैं। एक का नाम विवेक और दूसरे का नाम है वैराग्य।"

अब तो देवर्षि नारद को बड़ा आश्चर्य हुआ। बूढ़े दिखने वाले पुत्र हैं और युवती दिखने वाली माता है! पर यहाँ पर हम एक बात पढ़ते हैं कि माता भले ही युवती दिखाई देती हो, उसके दोनों पुत्र बूढ़े हो गए हैं। **एक पुत्र है विवेक और दूसरा पुत्र है वैराग्य**। वह किसी प्रकार अपने इन दोनों मरणासन्न पुत्रों को जीवन-दान देना चाहती है। इसके लिए वह नारद से अनुरोध करती है – "आप देखिए, यदि किसी प्रकार आप उपाय कर सकें कि मेरे दोनों पुत्र फिर से ठीक तरुणावस्था को प्राप्त हो जायँ।"

अन्त में उनको यह उपाय बताया गया कि तुम जाकर उन्हें भागवत सुनाओ और वे आकर जब भागवत सुनाते हैं, तो विवेक और वैराग्य धीरे-धीरे तरुण होने लगते हैं। जिस समय उन्होंने भागवत का तत्त्व सुना दिया, तो विवेक और वैराग्य तरुण होकर खड़े हो जाते हैं। भक्तिदेवी अत्यन्त प्रसन्न होती हैं। यह कथा है। तात्पर्य यह कि यदि विवेक और वैराग्य हमारे जीवन में अपुष्ट रहे, तो भक्तिदेवी रोती रहती है। भक्तिदेवी प्रसन्न नहीं होतीं। भक्तिदेवी प्रसन्न कब होंगी? जब विवेक और वैराग्य को हम अपने जीवन में पुष्ट करें, यही भक्तिदेवी को प्रसन्न करने का तरीका है।

जब हम श्रीमद् भागवत को पढ़ते हैं, तब ऊपर-ऊपर से ऐसा लगता है कि अभी हमें विवेक की जरूरत नहीं है। श्रीरामकृष्ण कहते थे – श्रीराधा के भाव को समझना बड़ा कठिन है। देखो, राधा के तत्त्व की बात तो बहुत की जाती है। कृष्ण और राधा के प्रेम की बात तो तुम लोग बहुत करते हो, पर राधा का जो प्रेमतत्त्व है, उसको तुम लोग समझ नहीं पाओगे। उसको समझने में कठिनाई तुम्हारे मन की वासना है। **कामगन्ध-शून्य हुए बिना राधा के भाव को समझना कठिन ही नहीं, असम्भव है।** इसका एक तात्पर्य

है। जैसे मैं कटोरी में लहसुन घोल देता हूँ और इसके बाद मैं कटोरी को पानी से धो देता हूँ, तब यह कटोरी लहसुन-शून्य हो जाती है, पर लहसुनगन्ध-शून्य नहीं होती। नाक के पास ले जाने से उसमें से लहसुन की गन्ध मिलती है। लहसुनगन्ध-शून्य करने के लिए मुझे कटोरी को आग में तपाना पड़ता है। तब वह गन्ध दूर होती है।

ठीक इसी प्रकार जब तक मेरे भीतर में काम की गन्ध है, तब तक तो मैं गोपी-प्रेम-तत्त्व को समझ नहीं पाऊँगा। इसका कारण यह है कि मेरे भीतर में वासनाएँ हैं। मेरी दृष्टि पवित्र नहीं है। इसलिए जब मैं भागवत में रासलीला का वर्णन करता हूँ, तो जैसे मेरे अपने संस्कार हैं, उन्हीं से प्रेरित होकर मैं राधा की, गोपियों की और भगवान कृष्ण की चेष्टाओं को देखता हूँ। भले ही मैं ऊपर से यह कहता रहा हूँ कि वे साक्षात् भगवान विष्णु ही हैं और वे गोपियों के साथ लीला कर रहे हैं, पर चुँकि मेरा मानसिक विकार बहुत बढ़ा हुआ है, मेरा अन्त:करण शुद्ध नहीं है, इसलिए भागवत से लाभ होने के बदले हानि हो जाती है।

ज्ञान में हमारा मन टिकता नहीं, योग में हमारी अवस्थिति होती नहीं, उस भक्ति को नारदीया भक्ति कहते हैं, जिसका वर्णन देवर्षि नारद ने अपने भक्तिसूत्र में किया है – **यथा ब्रज-गोपिकानाम्**। जैसे ब्रज की गोपियों ने कृष्ण से प्रेम किया, वैसा ही प्रेम यदि हम ईश्वर के प्रति कर सकते हैं, तो हमें ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।

अब हमें यह जानना है कि ब्रज की गोपियों ने भगवान से किस प्रकार प्रेम किया था? भगवान कृष्ण के प्रति गोपियों की क्या दृष्टि है? आप पढ़ते हैं, जिस समय रास होने को है, तभी रास की तैयारी के लिए, भगवान कृष्ण आते हैं। उस समय की एक घटना है, जिससे मालूम पड़ेगा कि गोपियाँ किस दृष्टि से इन यशोदानन्दन को देखती थीं। एक सखी आयी है, अन्य सखियों के साथ। यह जो सखी आई, उसका शरीर कम्पित हो रहा है, नेत्र से अश्रु बह रहे हैं और ऐसा लगता है कि उसे रोमांच हो आया है। मानो समाधि की अवस्था है। कुछ बोल नहीं पा रही है, भाव के आधिक्य के कारण कण्ठ अवरुद्ध हो गया है। सखियों ने देखा और पूछा – "क्यों री, तू तो अत्यन्त आनन्दित दिखाई दे रही है। क्या बात है? तूने कुछ दृश्य देखा है?" – "नन्द बाबा के आंगन में, सखी, मैंने अद्भुत दृश्य देखा कि वेदान्त का सिद्धान्त अपने अंगों में धूल जमा करके नाच रहा था। जबसे मैंने यह दृश्य देखा, तबसे मेरी ऐसी अवस्था हो गई है।"

यह गोपी कन्हैया को वेदान्त-सिद्धान्त के रूप में देखती है। उसके लिए यह कन्हैया यशोदा का नन्दन नहीं है। कोई ग्वाल-बालक नहीं है, बल्कि साक्षात् वेदान्त का सिद्धान्त है, जिसने नर का रूप धारण किया है और लीला कर रहा है। आज से करीब साढ़े पाँच हजार साल पूर्व की वह शरद्-पूर्णिमा की रात्रि! अपनी योगमाया को समाहित करके उसका सहारा लेकर उन्होंने कौतुक करने की सोची और उसके बाद वे अपनी बाँसुरी पर तान छेड़ते हैं। गोपियाँ आती हैं। ईश्वर की प्रति उनकी कितनी अनुरक्ति है कि जो गोपी जहाँ पर जो भी कार्य कर रही थी, वह छोड़कर वैसे ही भगवान के पास के पास भागती है। ईश्वर की पुकार जब हृदय में बजने लगती है, तब भक्त किसी की अपेक्षा नहीं रखता। उन्होंने देखा – गोपियों के मन में थोड़ा सा अहंकार आया है कि हम कितनी बड़भागिनी हैं! यहाँ पर हमें कन्हैया का सान्निध्य मिला और दूसरी गोपियाँ जो यहाँ नहीं आ पाईं, उनकी तुलना में हमारा भाग्य बड़ा है। भगवान को अहंकारी भक्त प्रिय नहीं। जब वे देखते हैं कि भक्त में थोड़ा-सा भी अहंकार आया है, तब फिर वे अहंकार का भक्षण ही करते हैं।

वे अन्तर्ध्यान हो जाते हैं और गोपियाँ रुदन करती हैं, भगवान कृष्ण को खोजती हैं। उनकी आँखों से प्रेम के अश्रु बहते हैं और यहाँ तक कि वे पाषाण-खण्ड से, भ्रमर से, वृक्षों से और हरिणों से पूछती हैं। इस भाव का वहाँ अद्भुत चित्रण किया गया है। इस भाव को वे सदा हृदय में बनाकर रहती रहीं। **कृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं, यह ज्ञान कभी विस्मृत नहीं हुआ।** यदि गोपियों के मन में कृष्ण के प्रति ईश्वरत्व का भाव नहीं होता, तब तो वह जार प्रेम होता। जब कोई नारी पर-पुरुष से प्रेम करती है, उसे जार-प्रेम कहते हैं।

भगवान शुकदेव के द्वारा बार-बार यह बताया गया कि चित्त का शोधन करो। यह भागवत-कथा साधना है। भागवत में जो प्रेम-तत्त्व है, वह यह है कि ईश्वर के साथ किसी प्रकार का नाता बना लेना चाहिए। श्रीरामकृष्ण भी ऐसा ही कहा करते थे। जब भक्तों ने पूछा – महाराज, आपने नारदीय भक्ति की बात तो कही, पर यह सधेगी कैसे? वे बोले – भगवान के साथ एक सम्बन्ध बना लो। एक नाता जोड़ लो। जैसे दुनिया में कितने नाते होते हैं? भगवान को माँ बनाया जा सकता है, पिता बनाया जा सकता है, सखा बनाया जा सकता है। इसी प्रकार भगवान के साथ एक नाता जोड़ लो।

हम भागवत में पढ़ते हैं, जहाँ पर कहा गया है कि भय के द्वारा, स्नेह के द्वारा, द्वेष के द्वारा आदि कितने ही प्रकार के नाते हो सकते हैं और जिन्होंने इनमें से किसी भी नाते से भगवान से नाता कायम किया, उन्होंने अन्त में भगवान को प्राप्त किया। ईश्वर के साथ जब हम नातेदारी बना लेते हैं, तो उसमें जिद चलती है, हठ चलता है। जिस प्रकार एक बालक अपनी माता के पास हठ कर सकता है, उसी प्रकार भक्त भगवान के पास हठ कर सकता है। भक्ति के माध्यम

से भी कैसे अद्वैत सधता है, इसका उदाहरण श्रीरामकृष्ण देते हैं। भगवान कृष्ण ब्रज को छोड़ करके चले गए। कन्हैया के विरह में अब गोपियाँ रोती हैं, यशोदा मैया रोती हैं, गोप-बालक रोते हैं। यह समाचार कृष्ण तक पहुँचता है।

भगवान कृष्ण ने एक दिन उद्धव को बुलाया और कहा – "सखे, तुम तो ज्ञानी हो, जाकर जरा उन्हें समझा दो तो। मुझे समाचार मिला है कि जबसे मैं ब्रज छोड़कर के आया हूँ, तब से माता रोती रहती है, गोप-गोपियाँ रोते रहते हैं। तो तुम जाकर के उनको ज्ञान की बात बताओ।" उद्धव सन्देशा लेकर के जाते हैं और हम पढ़ते हैं कि उद्धव को आया देख करके गोप-गोपियाँ, माँ यशोदा सब आ जाते हैं और वहाँ पर भगवान कृष्ण से सम्बन्धित जितनी भी लीलाएँ हैं, उनकी चर्चा करते हैं। उद्धव ने उन लोगों से कहा – "कृष्ण तो साक्षात् ईश्वर हैं। वे तो तुम्हारे ही अपने भीतर में हैं। एक बार अपने हृदय में ध्यान धरो, देखोगी – वहाँ पर कन्हैया विराजित हैं।" यशोदा माता ने कहा – बेटा उद्धव, तू कहता है, मन में ध्यान धरना चाहिए, अच्छा मन कितने होते हैं?" उद्धव ने कहा – "मन तो एक ही होता है।" तब गोपियों ने कहा – "जबसे वह चितचोर हमारे उस एक चित्त को चुराकर ले गया है, दूसरा चित्त हमारे पास है कहाँ, जिससे कि हम उसका ध्यान करें?" यह भक्ति का अद्वैत है।

आज शरद्-पूर्णिमा की रात्रि है, इसी रात्रि में भगवान कृष्ण ने गोपियों के साथ लीला की थी, रास किया था। गोपियाँ मानो हमारे भीतर की चित्त-वृत्तियाँ हैं, तो ये चित्त-वृत्तियाँ जाकर भगवान कृष्ण के साथ एक हो जायँ। कृष्ण-नाम का अर्थ होता है – खींचना। कृष्ण वह है, जो खींचता है। तो हम प्रभु से यही कहें – "प्रभो, तुमने गोपियों को खींचा था, ठीक है। ये गोपियाँ तो हमारा मन है, जो गो का पान करती हैं। गो माने इन्द्रियाँ। इन इन्द्रियों का पान करने वाली हैं चित्त की वृत्तियाँ। जो कृष्ण साक्षात् परमेश्वर हैं, वे हमारी चित्तवृत्तियों को खींचें, उनके साथ रास रमा दें। रास रमाकर के उन सबको एक कर दें, आज की शरद्-पूर्णिमा की रात्रि में हमारा चित्त जो हरदम बहिर्मुखी होता है, उसको अपने चरणों में खींच करके हमारे जीवन को धन्य बना दें, विवेक और वैराग्य को पुष्ट करते हुए हमें भक्ति प्रदान करें। ❑❑❑

सन्त रविदास का जीवन-दर्शन

डॉ. रामनिवास, अजमेर

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के अन्तर्गत निर्गुण भक्तिधारा में संत कबीर के सामन ही संत रविदास जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे अत्यन्त विन्रम और उदारमना थे। समाज में धर्म के नाम पर फैले विभिन्न कर्मकाण्ड रूढ़ि-रीतियों को बिना फटकार के, सहजता से परे हटाकर वे अपनी बातें सबके सम्मुख रखते हैं। विरोध और तिरस्कार उनकी भाषा में कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा। वे बहुश्रुत और सारग्राही थे। उनकी पूर्ण आस्था 'मानवता' में है। मनुष्य समाज की इकाई है, अत: मनुष्य से वे समाज पर आते हैं। वे मनुष्य को केन्द्र मानते हैं, परन्तु समाज भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं होता। यही उनकी विशेषता है।

बचपन, जवानी, प्रौढ़ता और बुढ़ापा – मनुष्य जीवन की चार अवस्थाओं की तुलना वे रात के चार पहरों से करते हैं। मनुष्य यहाँ एक व्यापारी है, जो इस जीवन में 'रामनाम' का सौदा करने आता है, लेकिन अज्ञानवश सांसारिक विषय-वासनाओं का सौदा करके अपने जन्म और जीवन को यूँ ही व्यर्थ गँवा देता है। इसके परिणामस्वरूप वह जन्म-जन्मान्तर तक दु:ख भोगता है। यही मनुष्य-जीवन की विडम्बना है। रविदास कहते हैं – "ऐ बनजारे (व्यापारी) ! रात के पहले पहर में तूने इस संसार में जन्म लिया। बालपन में तूने तथा तेरी बुद्धि ने नादानी की थी, इसीलिये तू परमात्मा की सेवा-भजन-भक्ति से चूक गया। बचपन में नादान बुद्धि के कारण तुझे होश नहीं रहा। तू माया के भ्रमजाल में भूला रहा। तेरे जीवन की नाव भव-सागर के जल में आ गई, परन्तु तूने पहले से ही अपनी नाव में रक्षा के लिये पाल नहीं बाँधा, बाद में अब पछताने से क्या होगा? अर्थात् कोई लाभ नहीं होगा। तू अयाना (अनाड़ी) जब बीस वर्ष का हुआ, तो कुकर्मों में बहने लगा। अपनी चढ़ती हुई जवानी का भार भी सँभाल नहीं पाया। रविदासजी कहते हैं कि अरे बनजारे ! इस प्रकार तूने इस संसार में जन्म बिताया।

"ऐ बनजारे ! रात के दूसरे पहर (जवानी) में जब तेरे जीवन में कठिनाइयों की गरमी बढ़ने लगी, तो उससे बचने के लिये तूने आश्रय ढूँढ़ना शुरू किया। फिर भी तूने परमात्मा का ध्यान नहीं किया। तू आनन्द और शान्ति के स्रोत परमात्मा का 'नाम' नहीं ले सका।

"अपनी जवानी की मदहोश तरंगों के खिंचाव में मोहित

होकर यह बड़ा अपराध तूने किया। तुझे अपने और पराये का ख्याल ही न रहा और तूने बहुत-से बुरे कर्म किये। परमात्मा के दरबार में जब यमराज तुझसे तेरे किये कर्मों का लेखा लेगा और तुझे पूरा-पूरा हिसाब चुकाना ही पड़ेगा। उस समय तू वहाँ घोर संकट में फँस जायेगा। रविदास जी कहते हैं – हे बनजारे! यह नतीजा सांसारिक आश्रय में मौज-आराम करते देखते रहनेवाले का है।

''ऐ बनजारे! रात के तीसरे पहर – प्रौढ़ावस्था में अब तेरी प्राणशक्ति ढीली पड़ गई है, क्योंकि चित्त में वासना और बुरे विचार भरे रहने से शरीर और वाणी से तू कर ही क्या सकता था। मानसिक विकारों के कारण शरीर और मन से सत्कर्म भला कैसे हो सकते हैं? अपने काया-रूपी गढ़ में बुरे विचार भरे होने के कारण तूने पहले भी मनुष्य जन्म व्यर्थ ही गँवा दिया था। अबकी बार इस मनुष्य में भी यदि तूने सत्कर्म नहीं किया, तो फिर यह गढ़ पिछला मनुष्य शरीर भी तुझे नहीं मिलेगा। तेरे शरीर में कम्पन शुरू हो जायेगा और अन्त में यह काया रूपी गढ़ – मनुष्य-जीवन भी तुझसे छीन लिया जायेगा। तब तुझे बड़ा पछतावा होगा। रविदास जी सचेत करते हैं कि हे बनजारे! मनुष्य की प्राणशक्ति ढीली पड़ने पर ऐसा ही होता है।

''रात के अन्तिम – चौथे पहर (बुढ़ापे) में ऐ बनजारे! तेरा यह शरीर काँपने लगा। अब यमराज ने लेखा लेने (तेरे कर्मों का हिसाब करने) के लिये तुझे वापस बुलाया है। तुझे अब यह अपना पुराना शरीर छोड़कर जाना ही पड़ेगा। अपने पुराने शरीर को मृत छोड़कर अरे अज्ञानी! अब तुझे जल्दी ही अपने कर्मों का सौदा अपने कर्म-रूपी बैल पर लादकर ले चलना है। मृत्यु के समय यमराज के दूत आये और मुश्कें बाँधकर तुझे ले चले, क्योंकि अब तेरे जीवन की बारी पूरी हो गई। अब तू अकेले ही रास्ते में चल रहा है और तुझे घोर कष्ट हो रहा है। इस रास्ते में ऐसा कोई नहीं जो तेरा साथ दे या तुझसे सहानुभूति दिखाये। रविदासजी कहते हैं कि हे बनजारे! इस घोर संकट की अवस्था के बारे में सोचकर ही भय से शरीर काँपने लगता है।

''हे मेरे प्रिय दुखी मन और संसार के लोगों! इस दु:ख-भरी दुनिया में तुम राम का नाम जपो। शरीर-रूपी गढ़ अत्यन्त कच्चा है, जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार नामक चोर लगे हुये हैं। अरे अभागे, तू जागता क्यों नहीं? तू आँखें खोलकर भी देखता नहीं कि तुझे परमात्मा ने यह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य जीवन क्यों दिया है? तू तो बिल्कुल बेफिक्र होकर पैर फैलाकर सोया हुआ है। इस प्रकार तू अपने मनुष्य जन्म और जीवन को बेकार में ही नष्ट कर रहा है, व्यर्थ गँवा रहा है। रविदासजी कहते हैं कि यदि तू आत्मचेतना के आलोक में जाग उठे और संसार के विषयों से सतर्क होकर संयमपूर्वक जीवन बिताये, तो फिर सदा के लिये राम से तेरा मिलन हो जायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं –

दुखियारी दुखियारा जग मँह,
मन जप लै राम पियारा रे ।।
गढ़ कांचा तस्कर तिह लगा,
तू काहे न जाग अभागा रे ।।
नैन उधारि न पेखियो,
तुझ मानुष जनम किह लेखा रे ।।
पाँउ पसार किमि सोई पर्‌यौ,
तैं जनम अकारथ खोया रे ।।
जन रविदास राम नित भेंटहि,
रहि संजम जागति पहरा रे ।।

''यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर और जीवन पिछले पुण्यों के फलस्वरूप ही प्राप्त हुआ है। परन्तु अज्ञानता के कारण यह जीवन व्यर्थ ही व्यतीत हो रहा है। परमात्मा की भक्ति के बिना यदि हमें राजा इन्द्र के समान ऐशो-आराम के महल और राजगद्दी (पद के अधिकार) भी मिल जाये, तो सत्य ही कहता हूँ, वह किसी काम नहीं आ सकेगी। जिस रस को पीकर अन्य रसों की सुधि भूल जाती है, यदि हम अपने प्रभु राम के रस (भक्ति रूपी अमृत) में सराबोर नहीं हुये, तो निश्चय ही जानिये कि हम महामूर्ख हैं। जो सब कुछ समझते हुये भी अनजान बने हुये हैं और ऐसी चीजों की सोच-फ्रिक में रात-दिन बिताते जा रहे हैं, जिनकी कल्पना और सोच-विचार करना ही नहीं चाहिये। हमारी बुद्धि में परमार्थी भाव का प्रवेश ही नहीं हो पाता, क्योंकि संसार के भोग-विलास के चिन्तन से इन्द्रियाँ तो बलवान हो गई हैं और विवेक-शक्ति, निर्णय की क्षमता कमजोर हो गई है। हमारी कथनी और करनी एक समान नहीं है, कहते कुछ हैं और करते कुछ और हैं। यह भी मामूली-सी बात नहीं समझ पाते कि माया भिन्न है और मनुष्य उससे सर्वथा भिन्न है, अत: उससे लिपटना नहीं चाहिये। रविदास जी कहते हैं कि हे परमात्मा! आपके दास की बुद्धि में उदासी (संसार से विरक्ति) छा गई है। अब तो आप नाराजगी छोड़कर इस जीव पर दया करें।''

''साधना का पथ, परमात्मा से मिलने का आन्तरिक रास्ता बहुत ही कठिनाई भरा और ऊँचा नीचा है। इधर मेरा जीवन रूपी बैल जिस पर सारे कर्म, अकर्म और राम-नाम रूपी सौदा लादकर ले चलना है, यह बिल्कुल ही गुणहीन है। ऐसे में कैसे रक्षा होगी? परमात्मा से मेरी केवल एक विनती है कि वे किसी प्रकार मेरी पूँजी बचा लें। अरे! है कोई राम नाम का व्यापारी, जो मेरे साथ चले। मैंने इस जीवन में जो व्यापार किया, उसका माल लादा जा रहा है। मैं हूँ 'राम' का व्यापारी और सौदा करता हूँ 'सहजावस्था' का। ये दुनिया के लोग विषय-वासना-रूपी विष का सौदा

लादते हैं, मैं 'राम-नाम' का धन लादता हूँ। हे इस लोक और परलोक का लेखा लिखने वाले ! आप यहाँ-वहाँ (लोक परलोक) का जो भी लेखा लिखना हो लिख लीजिये। परन्तु मुझे यमराज, जो प्रत्येक प्राणी के मरने के बाद उसके कर्मों का हिसाब करता है, वह भी दंड नहीं दे सकता, क्योंकि मैं संसार के समस्त कर्मों पाप-पुण्य से मुक्त हो चुका हूँ। मैं जानता हूँ, संसार का रंग कुसुम के रंग जैसा जल्दी फीका पड़ने वाला है। रविदास जी कहते हैं कि मेरे परमात्मा का रंग मजीठ जैसा है, जो कभी फीका नहीं पड़ता।

''संसार की विषय-वासना और भोगों में फँसा हुआ यह जीवन उस भँवरे के समान ही तुच्छ है, जो कमल की सुगन्ध में आसक्त होकर सूर्यास्त के समय पंखुड़ियों के बन्द होने पर उसी में फँसा रह जाता है। पूरे जीवन संशय और भ्रम में ही भटकते रहे, तो फिर ऐसा जीवन व्यर्थ है, जो किसी भी काम का नहीं है। जैसे कमल का पत्ता जल में रहकर भी उससे अछूता रहता है, ठीक ऐसे ही अनासक्त भाव से हमें संसार के व्यवहार में रहना चाहिये। चित्त सदगुरु के चरणों में लगना ही चाहिये। धनी का आसन त्यागकर? दृढ़ आसन लगाकर परमात्मा के भजन में बैठना चाहिये। प्रभु राम का नाम, अनहद नाद (परमात्मा के घर का संगीत) में अपने को लीन कर देना चाहिये। समस्त पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन, स्नान, तीर्थ-यात्रा, यज्ञ और हवन – इसी में समाहित हैं कि हम नौ दरवाजों को खाली करके दसवें दरवाजे तीसरे तिल (शिव नेत्र, तीसरी आँख) में ध्यान के द्वारा प्रवेश करें। वेदों में जिसे 'नेति-नेति' अनन्त कहकर बखान किया गया है, वही तो 'राम' का असली रूप है। रविदासजी कहते हैं कि ऐसा सर्वव्यापी' 'राम' जो घट-घट-वासी है, उसे हम क्यों भूल जाते हैं यह विचारणीय है –

ताकौ जनम अकारथ कहिये ।।
विषयन रतु संसा भ्रमु अटक्यो,
भँवर फंद मंहु रहिये ।।१।।
जग मँह रहहु कँवल जल जइसे,
गुर चरनाँ चित रहिये ।
आसनु छांडि द्रिढु आसन बैइठि,
राम नावँ लिव लइए ।
पूजा भजनु कीरतन सब कछु,
दसधा हु मँहि समइए ।।२।।
नेत नेत जिहिं वेद बषानहिं,
राम रूव तेहि कहिये ।
कहि रविदास जउ व्यापहि घट घटु,
तिहि काँई विसरिये ।।३।।

''यदि जीवन में परमात्मा नहीं है, तो फिर यह किस काम आयेगा। ऐसे जीवन को धिक्कार है। आँखों के बिना जीवित काया की जो दशा होती है, वही रात के बिना चन्द्रमा की, गहरे पानी के बिना मछली की, सूँड़ के बिना हाथी की, पंख के बिना पक्षी की, दीपक के बिना मन्दिर की, वेद के ज्ञान के बिना ब्राह्मण की होती है, ठीक वैसी ही तुम्हारी दशा जीव की, तुम्हारे (परमात्मा के) नाम के बिना होती है। वेश्या का लड़का भला किसे पिता कहे? भगवान के बिना भक्त की भी वैसी ही अनाथ दशा होती है। जिस प्रकार ध्यानपूर्वक जपे बिना मंत्र का प्रभाव नहीं होता, वह निष्फल हो जाता है, ठीक वैसे ही परमात्मा के बिना मनुष्य जीवन निष्फल है। हे संतजनो ! तृष्णा को त्याग दो और काम, क्रोध, अहंकार को रोक दो। सद्गुरु के चरणों की शरण लेने पर ही यह सम्भव है। रविदास कहते हैं कि ज्योंही मैं अपने गुरु के चरणों में लगा, उनका ध्यान किया मेरे तन-मन को शीतलता प्राप्त हो गई।

''अरे मनुष्यो, जीवन की क्षणभंगुरता को समझो। तुम्हारा यह अनमोल जीवन व्यर्थ ही बीता जा रहा है। अपने शरीर के जर्जर होने पर भी तुमने परमात्मा के नाम का सुमिरन नहीं किया। संसार की वस्तुयें और सम्बन्ध धन, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, बहन – ये सभी बहुत ही कम अर्थात् चार दिनों के सम्बन्धी-साथी हैं। जैसे वृक्ष से टूटकर अलग हुआ पत्ता, फिर किसी भी प्रयास से वह पुनः जुड़ नहीं पाता, वैसे ही एक बार बिछुड़ने के बाद इन सभी से मिलन होना सम्भव नहीं है। यदि समय रहते तुमने परमात्मा का नाम नहीं लिया, देर की, तो फिर बुढ़ापे में जब तुम पर कफ, पित्त और वात का प्रकोप होगा, तो फिर तुम कैसे परमात्मा का सुमिरन करोगे? काल (समय) बहुत ही विकराल और शक्तिशाली है। यह शिकारी की तरह संसार में घूमता रहता है और अचानक बिना पूर्व चेतावनी दिये ही जीवों पर प्रहार कर देता है। जो परमात्मा के नाम रूपी अमृत को छोड़कर विषय-वासना-रूपी विष को खाता है, वह तो मतिमन्द मूर्ख ही है, जो चेतता नहीं। रविदास जी कहते हैं कि अन्य सभी की आशा को छोड़कर 'तू' एक सत्य परमात्मा के रंग में रँग जा।''

❑❑❑

रामकृष्ण मिशन आश्रम

(रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ की एक शाखा)

स्वामी आत्मानन्द मार्ग, प्रेस काम्प्लेक्स के पास,

भोपाल (म.प्र.) ४६२ ००१

टेलीफोन : 0755-2550520 **Email :** ashrama@rkmbhopal.org

Website : www.rkmbhopal.org

एक अपील

भोपाल का रामकृष्ण मिशन आश्रम. पिपलानी के भेल काम्प्लेक्स में 'विवेकानन्द विद्यापीठ' नाम से एक स्कूल चलाता है, जिसमें केजी १ से बारहवीं तक की सह-शिक्षा प्रदान की जाती है ।

वर्तमान में इसमें निर्धन तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग के लगभग ६६० छात्र-छात्राएँ शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं । पुराने स्कूल का भवन आवश्यकता के लिहाज से छोटा पड़ रहा है और जर्जर भी हो चुका है, अत: आश्रम की प्रबन्ध समिति ने तीन करोड़ की लागत से एक नये स्कूल-भवन के निर्माण का बीड़ा उठाया है ।

२४ जुलाई, २००९, शुक्रवार के दिन रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलूड़ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज ने प्रस्तावित स्कूल-भवन की आधारशिला रख दी है । ५ अगस्त २००९ को 'राखी-पूर्णिमा' के शुभ अवसर पर निर्माण-कार्य का श्रीगणेश भी हो चुका है ।

इस स्थिति में आश्रम की प्रबन्ध-समिति – सभी अनुरागियों, पुण्याभिलाषियों, सेवाभावी संस्थाओं तथा व्यावसायिक संस्थानों से हार्दिक अनुरोध करती है कि वे आगे बढ़कर इस सार्वजनिक कार्य में सहायता करें ।

उपरोक्त पुण्य-कार्य हेतु छोटी-से-छोटी सहायता राशि भी सधन्यवाद स्वीकृत होगी । रामकृष्ण मिशन को दिये गये सभी दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अनुसार आयकर से मुक्त है।

कृपया चेक या ड्राफ्ट "रामकृष्ण मिशन आश्रम, भोपाल" के नाम पर बनवाकर उपरोक्त पते पर 'सचिव' के नाम से भेजें।

प्रभु की सेवा में आपका

स्वामी भावरूपानन्द

सचिव